इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MSK 003
दर्शन : न्याय, वेदान्त, सांख्य और मीमांसा

खंड

3

वेदान्तसार (सदानन्द)

खंड परिचय खंड – 3 वेदान्तसार (सदानन्द)

पाठ्यक्रम का तीसरा खंड वेदांन्तसार (सदानन्द) है, जिसके अंतर्गत सदानन्दकृत वेदान्तसार का परिचय तथा प्रतिपाद्य विषयवस्तु का परिचय दिया गया है। अनुबन्ध चतुष्टय, अज्ञान, सृष्टि प्रक्रिया, अध्यारोप, अपवाद, तत्त्वम्पदार्थशोधन, महावाक्यार्थ विचार तथा स्वस्वरूपसाक्षात्कार हेतु साधन, समाधि और साधक के जीवनमुक्त होने जैसे महत्वपूर्ण साधनापक्षों पर इस खंड की सात इकाईयों में चर्चा प्रस्तुत की गई है।

मूलग्रंथ भाग, संबद्ध विवेचन–संदर्भ तथा अन्य संदर्भ भी प्रस्तुत किए गए हैं जिनका अर्थ एवं व्याख्या विशेष विवेचन सहित छात्रों की सुविधा हेतु प्रस्तुत है। आशा है खंड के अध्ययनोपरान्त आप वेदान्त दर्शन के विभिन्न पक्षों एवं साधना–साधक पक्षों का गहनता से परीक्षण कर सकेंगे। खंड की इकाईयों की संयोजना इस प्रकार हैं :

इकाई 9 सदानन्द एवं उनका वेदान्तसार

इकाई 10 अनुबन्धचतुष्टय

इकाई 11 अज्ञान

इकाई 12 सृष्टि प्रक्रिया

इकाई 13 अध्यारोप, अपवाद और तत्वम्पदार्थशोधन

इकाई 14 महावाक्यार्थ विचार

इकाई 15 स्वस्वरूपसाक्षात्कार साधन, समाधि और जीवनमुक्ति

इकाई 9 सदानन्द एवं उनका वेदान्तसार

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के अनन्तर आप :

- वेदान्तदर्शन का एक सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- वेदान्तसार के लेखक सदानन्द के विषय में जान सकेंगे।
- वेदान्तसार के वर्ण्य–विषय एवं सामान्य तथ्यों के बारे में जान सकेंगे; तथा
- विषय संबंधी नये पदों के प्रकृति–प्रत्यय के बारे में जान सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

तर्कसंग्रह के खण्ड दो की पूर्वोक्त चार इकाइयों में आप न्याय दर्शन के बारे में सामान्य जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। उपर्युक्त इकाइयों में न्यायवैशेषिक परम्परा के सन्दर्भ में तर्कसंग्रह का ज्ञान, सप्तपदार्थों का ज्ञान, नवद्रव्यों का ज्ञान चौबीस गुणों का ज्ञान एवं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द चार प्रमाणों का विधिवत् अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में आपको वेदान्तदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का ज्ञान सदानन्द के वेदान्त सार के आधार पर प्राप्त होगा।

9.2 वेदान्तदर्शन की पूर्वपीठिका

भारतीय दर्शनों का प्रारम्भकाल वेदों के प्रादुर्भाव काल से ही आरम्भ होता है। ऐतिहासिक ज्योतिष आदि प्रमाणों के द्वारा ऋग्वेद का काल ई.पू. 5000 वर्ष से 10000 वर्ष के बीच निर्धारित होता है। दर्शनों का काल भी उतना ही पुराना मानना औचित्यपूर्ण प्रतिभाषित होता है। क्योंकि ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में दर्शनतत्त्व का अंश पूर्णरूप से प्रतीत होता है। जैसे –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

संसाररूपी वृक्ष पर मित्र रूप में दो पक्षी बैठे हैं, जीव तथा ईश्वर। उसमें से एक (जीव) सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता है। परन्तु दूसरा (ईश्वर) सांसारिक पदार्थों का उपभोग नहीं करता है, अपितु संसार को नियन्त्रित करता है। इसी प्रकार अन्य भी मन्त्र दर्शन तत्त्व के पुष्ट करते हैं। भारतीय पद्धति में वेदतत्त्व से सम्बद्ध छह दर्शन है जिनको आस्तिक दर्शन कहा जाता है। जो निम्नरूप से जाने जाते हैं – सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा (पूर्वमीमांसा) वेदान्त (उत्तरमीमांसा)। इन दर्शनों में प्रमुख स्थान वेदान्त दर्शन का है। वेदान्तदर्शन का मुख्य स्रोत सूत्र रूप में प्राप्त होता है, जिसका प्रथम सूत्र ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' है। इसके प्रणेता कृष्णद्वैपायन बादरायण वेद व्यास जी है। इस सूत्रात्मक वेदान्त दर्शन पर अद्वैत एवं द्वैत भावना से प्रेरित अद्वैत तथा द्वैत मत को पुष्ट करने वाला अनेक टीकाएँ एवं भाष्यग्रन्थ हैं। अद्वैत मत को पुष्ट करने वाली सर्वाधिक प्रामाणिक भाष्य ग्रन्थ भगवत्पाद शंकराचार्य जी का शारीरिक भाष्य है। यह भाष्य अत्यन्त तर्क संगत एवं प्राचीन होने के कारण वेदान्तदर्शन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। द्वैत सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले सर्वाधिक प्रामाणिक आचार्य माध्वानन्दतीर्थ हैं, अतएव द्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक वेदान्तदर्शन को माध्ववेदान्तदर्शन भी कहा जाता है। सदानन्द कृत वेदान्तसार ग्रन्थ अद्वैतवेदान्त दर्शन का ग्रन्थ है।

उपनिषद् में वेदान्त शब्द का प्रयोग श्रुतियों के चरम सिद्धान्त के रूप में समुपलब्ध है। वेदान्तशब्द दो पदों के सम्मिश्रण से बनता है, वेद + अन्त = वेदान्त। इन दोनों पदों का संयुक्त अर्थ ''वेद का निष्कर्ष'' है। वेदों में ब्रह्म प्रतिपादक निष्कर्ष भाग ही वेदान्त नाम से जाना जाता है। भारतीय सभी आस्तिक दर्शनों का प्रमुख उद्देश्य ब्रह्मप्राप्ति मोक्ष में ही समाहित है। वेदान्तदर्शन का अद्वैतसिद्धान्त अत्यधिक मान्य है, अतएव अद्वैत सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले शंकराचार्य के अतिरिक्त अन्य आचार्य भी हैं जिन्होंने अद्वैत सिद्धान्त को बताने के लिए अनेक टीका ग्रन्थ लिखे हैं। जैसे गौड़पादाचार्य की माण्डुक्यकारिका, सुरेश्वराचार्य की नैष्कर्मसिद्धि, वाचस्पति मिश्र की भामती टीका एंव इसी क्रम में सदानन्द का वेदान्तसार प्रकरण ग्रन्थ भी है।

9.3 सदानन्द का संक्षिप्त परिचय

वेदान्तसार अद्वैतसिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाला वेदान्तदर्शन का सबसे प्रमाणिक अन्तिम प्रकरण ग्रन्थ है। इसके लेखक सदानन्द योगीन्द्र सरस्वती है। सदानन्द जी लघुकाय वेदान्तसार ग्रन्थ में वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त को बहुत कुशलता से प्रतिपादित किया है। इसके संक्षिप्त परिचय को हम यथाप्रसार बताने की कोशिश करते हैं।

लेखक के जन्मकाल का स्पष्टोल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता है। रचना के आधार पर कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। वेदान्तसार का रचनाकाल 16वीं शताब्दी माना जाता है। अतः ग्रन्थकर्ता का भी जन्मकाल 16वीं शताब्दी ही सुनिश्चित किया जा सकता है। कालनिर्णय में कुछ अन्य तत्त्व भी सहायक हो सकते हैं, जैसे वेदान्तसार की सुबोधिनी व्याख्या ग्रन्थकर्ता के शिष्य कृष्णानन्द सरस्वती ने 1599 ई. में लिखी। अतः ग्रन्थकार का काल इससे पूर्व या समकाल में ही होना चाहिए।

अपने ग्रन्थ के किसी भाग में भी इन्होंने अपना कोई परिचय ख्यापित नहीं किया है। अतः जन्म स्थान के बारे में भी कोई निश्चित निर्णय नहीं लिया जा सकता है। जनश्रुतियों के आधार पर इन्हें दक्षिण देश का माना जाता है। कालिदास आदि महान विद्वानों के भाँति ये भी महानुभाव स्वपरिचय ख्यापन में कही रुचि नहीं दिखाते हैं। शायद पूर्वकालिक विद्वानों को अपना परिचय देना उचित न लगता हो ऐसा अनुमान किया जा सकता है। अतः माता–पिता के बारे में भी कोई ज्ञान नहीं हो पाता है। वेदान्तसार के मङ्गलाचरण में अपने गुरू का नाम अद्वयानन्द इन्होंने स्वयं बताया है।

> अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः।
> गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति।।

अतः मङ्गलाचरण के आधार पर यह भी ज्ञान हो जाता है कि इनके गुरु अद्वयानन्द अद्वैतवेदान्त दर्शन के निष्णात विद्वान थे।

कृतियाँ : ''एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि'' इस उक्त को चरितार्थ करते हुए इनकी एक ही कृति चन्द्रमा की भाँति सहस्रों तारागणों को निस्तेज करने की भाँति अन्य विद्वानों के अनेक कृत्तियों पर भारी पड़ती है। अतएव वेदान्तविदों ने इस वेदान्तसार को वेदान्तदर्शन का कोहीनूर माना है। वस्तुतः लघुकाय यह वेदान्तसार प्रकरणग्रन्थ वेदान्तदर्शन के प्रायः प्रमुख सिद्धान्त को प्रतिपादित करने में किसी भाँति चूकता नहीं है।

9.4 वेदान्तसार की प्रतिपाद्य विषय वस्तु

वेदान्तसार, जैसे कि इस ग्रन्थ का जैसा नामकरण किया गया है वैसी ही इसमें विशेषताएँ भी हैं। यह अति लघु प्रकरण ग्रन्थ वेदान्त दर्शन के प्रायः प्रमुख सिद्धान्तों को साररूप में बताने का पूरा साहस करता है। इसमें गागर से सागर को भर कर रख दिया है। इस लघुकाय ग्रन्थ के समुचित अध्ययन से अध्ययनकर्ता निश्चित तौर पर वेदान्तदर्शन के प्रमुखतत्त्वों को ठीक प्रकार से जान सकता है। इस वेदान्तसार ग्रन्थ के मुख्य प्रतिपाद्य विषय निम्नलिखित है – अनुबन्ध चतुष्टय, अध्यारोप, लिङ्गशरीरोत्पत्ति, पञ्चीकरण प्रक्रिया, अपवाद, जीवन्मुक्त आदि। उपर्युक्त प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त स्वरूप प्रतिपादित किया जा रहा है।

9.4.1 अनुबन्ध चतुष्ट्य

वेदान्त दर्शन में अनुबन्ध चतुष्टय अर्थात चार प्रकार के अनुबन्धों की चर्चा की गयी है। वैसे तो प्रत्येक ग्रन्थ में अनुबन्ध को आवश्यक तत्त्व माना जाता है, क्योंकि कहा जाता है–

> विषयश्चाधिकारी च सम्बन्धश्च प्रयोजनम्।
> अनुबन्ध विना ग्रन्थे मङ्गलं नैव शस्यते।।

इस प्रकार विषय, अधिकारी, सम्बन्ध, प्रयोजन यह चार अनुबन्ध है। चार प्रकार के अनुबन्धों में सबसे प्रमुख अनुबन्ध अधिकारी होता है। क्योंकि वह फल को पाने वाला होता है। इसीलिए वेदान्तसार में सर्वप्रथम अधिकारी का लक्षण बताया गया है।

अधिकारी : अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिल–वेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मानतरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखितकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्ट्यसम्पन्नः प्रमाता।''

वेदान्तसारोक्त अधिकारी के लक्षण में मुख्य रूप से चार तत्त्व समाहित है। अर्थात् अधिकारी में मुख्य रूप से चार गुण होना अति आवश्यक है।

1. इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में भलीभाँति वेद एवं वेदाङ्ग (छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण) का अर्थसहित विधिवत निष्ठापूर्वक अध्ययन किया हो।

2. काम्यकर्म और निषिद्धकर्म को कभी न करता हो।

   क) काम्यकर्म : ''काम्यानि स्वर्गादि इष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमयादीनि।'' अर्थात् जैसे स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से किया जाने वाला यज्ञ ज्योतिष्टोम कहलाता है। वैसे ही अन्य कामनाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न यज्ञ अनुष्ठान किये जाते हैं। वे सब काम्यकर्म के अन्तर्गत आते हैं।

   ख) निषिद्धकर्म : ''निषिद्धानि नरकादि अनिष्टासाधनानि ब्राह्मणहननादीनि।'' अर्थात् जो कर्म नरक आदि को प्राप्त कराये वो निषिद्ध कर्म है। जैसे – ब्राह्मणबध, गोहत्या, गुरुनिन्दा, ईश्वरनिन्दा आदि।

3. जो शिष्य साधक निम्यकर्म, नैमित्तिककर्म, प्रायश्चितकर्म एवं उपासना के द्वारा सम्पूर्ण कल्मष (पाप) को विधि विधानपूर्वक धोकर पूर्णरूपेण निष्पाप होकर अत्यन्त निर्मल अन्तकरण वाला हो गया हो।

   क) नित्यकर्म : ''नित्यानि अकरणे प्रत्यवायसाधनानि संध्यावन्दनादीनि।'' अर्थात् जिस कर्म को न करने पर पाप होता हो। जैसे सन्ध्यावन्दन, ईशवनन्दन आदि।

   ख) नैमित्तिक कर्म : ''नैमित्तिकानि पुत्रजन्मादि अनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि'' अर्थात् पुत्र जन्म आदि के अवसर पर किये जाने वाले कर्म को नैमित्तिक कर्म कहते हैं। जैसे– जातेष्टि आदि।

   ग) प्रायश्चित्तकर्म : ''प्रायश्चितानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि।'' अर्थात् अज्ञात पापो को धोने के लिए जो अनुष्ठान यज्ञादि करते हैं उसे प्रायश्चित कर्म कहते हैं। जैसे– चान्द्रायण आदि।

   घ) उपसनाकर्म : ''सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापाररुपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।'' अर्थात् जो कर्म सुगुणब्रह्म को ध्यानावस्था में स्थित करके चिरकाल तक चिन्तन मुद्रा मं सम्पदित किया जाता है। वह उपसना कर्म है। जैसे– शाण्डिल्यविद्या इत्यादि।

ध्यातव्य : नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासना चार प्रकार के कर्म बताये गये हैं। जिसमें चारों कर्मों के भिन्न–भिन्न फल भी बताये गये है। फलों में भी दो भेद है – 1. मुख्यफल, 2. गौणफल (अमुख्यफल)। नित्य कर्म नैमित्तिककर्म,

प्रायश्चित्तकर्म का मुख्यफल बुद्धि शुद्धि अर्थात् बुद्धि की पवित्रता तथा गौणफल पितृलोक की प्राप्ति है। वहीं उपासनाकर्म का मुख्यफल चित्त का एकाग्रता तथा गौणफल सत्यलोक की प्राप्ति है।

4. ऐसा साधक जो साधनचतुष्टय सम्पन्न अर्थात् नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमादिषट्कसम्पत्ति, मुमुक्षुत्व इन चार साधनों से जो सम्पन्न हो।

   क) ''नित्यानित्यवस्तुविवेक : ''ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततः अन्यद् अखिलम् अनित्यम् इति विवेचनम्।'' अर्थात यहाँ यह बताया गया है कि अधिकारी को ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, इसके अतिरिक्त संसार के सम्पूर्ण वस्तु अनित्य है, यह ज्ञान होना चाहिए।

   ख) इहामुत्रफलभोगविराग : ''ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतया अनित्यत्ववद् आमुष्मिकाणाम् अपि अमृतादिविषयभोगानाम् अनित्यतया तेभ्यः नितरां विरतिः इहामुत्रफलभोगविरागः।''

इहामुत्रफलभोगविराग को परिभाषित करते हुए बता रहे हैं कि सुख के जो इस लोक में साधन हैं जैसे पुष्पमाला धारण, चन्दन विलेपन, स्त्री भोग आदि तथा जो पारलौकिक सुख के साधन है; जैसे, अमृतपान, अतिसुखमय अनुभूति आदि है, यह लौकिक (सांसारिक) तथा पारलौकिक (स्वर्ग में प्राप्त होने वाला) साधन व्यक्ति के अच्छे कर्मों से उत्पन्न पुण्य से प्राप्त होता है, अतः पुण्य के न्यून होने या समाप्त होने पर यह लौकिक तथा पारलौकिक साधन नहीं प्राप्त हो सकेंगे; अतः ये सब सुख के साधन पुण्य से उत्पन्न होने के कारण अनित्य है। अतः अनित्य वस्तु ब्रह्म नहीं है। इस प्रकार इन सुखसाधनों से सर्वथा विरक्ति होता ही इहामुत्रफलभोगविराग है।

ग) शमादिषट्कसम्पत्ति : ''शम–दम–उपरति–तितिक्षा–समाधान–श्रद्धा।''

1. शम – ''श्रवणादिव्यक्तिरिक्तविषयेभ्यो मनसः निग्रहः।'' ब्रह्म विषयक श्रवण–मनन–निदिध्यासन के अतिरिक्त सांसारिक कार्यों में मन को प्रवृत्त न होने देना अर्थात् मन को श्रवण मनन निदिध्यसन के अलावा संसार के किसी कार्य में न जाने देना ही शम कहलाता है।

2. दम – ''बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यक्तिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्'' पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, त्वक् बाह्ययेन्द्रिय है। इनका श्रवणमनननिदिध्यासन के अलावा अन्य कार्यों से मोड़ देना अर्थात् श्रवणमनननिरिध्यासन में ही इन्द्रियों को संयोजित करना अन्य कार्यों से विरक्ति कराना ही दम है। मन अन्तः ज्ञानेन्द्रिय है तथा श्रोत, चक्षु, जिह्वा, प्राण, त्वक् बाह्य ज्ञानेन्द्रिय है।

3. उपरति – ''निवर्तितानाम् एतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यः उपरमणम् उपरतिः अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः'' इसका तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषयों से हटाई गयी इन्द्रियों को श्रवणमनननिदिध्यासन के अलावा विषय से उपरमण (निवृत्तिः) कराना अथवा नित्य नैमित्तिकादि कर्मों का संन्यासग्रहणपूर्वक विधिपूर्वक त्याग करना है।

4. तितिक्षा – ''शीतोष्णद्वन्द्वसाहिष्णुता–तितिक्षा'' का अर्थ सहन शक्ति है। अर्थात् शीत तथा उष्ण, मान तथा अपमान इत्यादि जो परस्पर विरुद्ध आचरण है उन दोनों को सहन करने की शक्ति ही तितिक्षा कहलाती है।

5. समाधान – ''निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्।'' वशीभूत जो इन्द्रियाँ है (अन्तः ज्ञानेनिन्द्रय ब्राह्यज्ञानेन्द्रिय) उनको श्रवणमनननिदिध्यासन में संयुक्त करते हुए अभिमानादि से रहित होकर ब्रह्म विषय समाधि पुरस्सर चिन्तन ही समाधान कहलाता है।

6. श्रद्धा – ''गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा।'' अर्थात् जैसा आचार्य (गुरु) ने वेदान्त का जो अध्ययन कराया तथा अध्ययन काल में जो जो उपदेश किया उन उपदेशों में अटूट विश्वास ही श्रद्धा है।

घ) ममुक्षुत्व : अर्थात् मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाला। मोक्ष क्या है इसको बताते हुए आचार्यों ने कहा है जिसको अन्य कोई कामना न हो केवल वह ब्रह्मप्राप्ति ही चाहता हो वही मुमुक्षु है। इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणों से सम्पन्न को वेदान्तसार में प्रमाता कहा गया है और यही प्रमाता वेदान्तदर्शन को पढ़ाने के योग्य अधिकारी माना गया है। इन प्रमाता के लक्षणों को इस श्लोक के द्वारा भी संग्रहित किया गया है–

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे इति।।

अब पुनः अधिकारी विषय सम्बन्ध प्रयोजन इन चार अनुबन्धों की चर्चा को स्मृतिपटल में स्थापित करते हुए अधिकारी के इस लक्षण के बाद विषय की चर्चा आरम्भ करते हैं।

विषय– ''प्रयोजनम् अनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'' अर्थात् मन्द बुद्धि व्यक्ति भी उद्देश्य के बिना किसी कार्य को करने में उत्सुक नहीं होता है। अतः प्रश्न होता है कि वेदान्त में उद्देश्य अर्थात् विषय क्या है? अर्थात् किस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है। इस प्रकार से उत्तर में सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा ''विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।'' जीव तथा ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन ही विषय है। जीव और ब्रह्म के मध्य भेद उत्पन्न करने वाला अज्ञान होता है उसी को वेदान्त सार इत्यादि वेदान्तदर्शन के ग्रन्थों में माया और अविद्या नाम से ही जाना जाता है। इस अविद्या, माया, अज्ञान की सर्वथा निवृत्ति हो जाय तथा जीव ही ब्रह्म है ऐसी प्रतीती हो जाय यही वेदान्तदर्शन का विषय अथवा उद्देश्य है।

सम्बन्ध : सम्बन्ध की चर्चा करते हुए वेदान्तसार में लिखते है – ''सम्बन्धस्तु तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधक–भावलक्षणः।''

अर्थात् जीव और ब्रह्म में अभेद प्रतिपादन करना ही वेदान्तदर्शन का विषय अथवा उद्देश्य है। वही बोध्य है तथा वेदान्तदर्शन के जो उपनिषदादिग्रन्थ है वह बोधक है। अतः बोध्यबोधक भाव सम्बन्ध होता है।

प्रयोजन : प्रयोजन से तात्पर्य फल प्राप्ति है। अर्थात् वेदान्त दर्शन के विधिवत् अध्ययन का फल क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रयोजन को परिभाषित करते है, वेदान्त सार में लिखते हैं ''प्रयोजनं तु तदैक्य प्रमेयगता ज्ञान निवृत्तिः स्वरूपानन्दावाप्तिश्च'' अर्थात् जीवब्रह्म ही एकता (अभेद) ज्ञान में जो अज्ञान (माया अविद्या) आदि बाधक तत्त्व है उनकी सर्वथा निवृत्ति, तथा तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि आदि

अनुभव वाक्यों को आत्मसात् करते हुए ब्रह्मानन्द की अनुभूति होना ही वेदान्तदर्शन का प्रयोजन फल है।

9.4.2 अध्यारोप

वेदान्तदर्शन में अध्यारोप शब्द बहुधा श्रुत होता है। यह अध्यारोप क्या है, इसको परिभाषित करते हुए वेदान्तसार में अध्यारोप का स्वरूप बताते है ''असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुनि अवस्त्वारोपः'' जो रस्सी कभी भी सर्प नहीं हो सकता है ऐसी असर्पभूत रस्सी में अन्धकार भ्रान्ति के कारण सर्प की प्रतीति हो जाने के समान वस्तु में 10 अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। यहाँ प्रश्न होता है कि वस्तु क्या है इसका उत्तर देते है ''वस्तु सच्चिदानन्दा द्वयं ब्रह्म। अवस्तु क्या है? ''अज्ञानादिसकल– जड़समूहो अवस्तु'' अर्थात् अद्वैतभाव युक्त सच्चिदानन्द ब्रह्म ही वस्तु है अब जिज्ञासा होती है कि अज्ञान क्या है? इस अज्ञान को वेदान्तसार में इस प्रकार बताते है ''अज्ञानं तु सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्ति अहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्।'' अर्थात् अज्ञान सत् या असत् रूप से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञान का विरोधी, भावरूप कुछ है ऐसा वृद्धजन (वेदान्त के मर्मज्ञ) कहते हैं। ''मैं अज्ञानी हूँ'' इत्यादि अज्ञान आदि अनुभव ही इसमें प्रमाण है। उपर्युक्त (अध्यारोप) विषय को और अधिक स्पष्ट इस प्रकार समझा जा सकता है। अन्धकारमय मार्ग में टेढ़ी मेढ़ी सॉप (सर्प) के तरह पड़ी हुयी रस्सी को देखते ही डर लगने लगता है और स्पष्ट न हो पाने के कारण उसे हम साँप समझने लगते हैं। इस प्रकार अन्धकर के कारण रस्सी को साँप समझना ही अध्यारोप कहलाता है।

वस्तु : जो (भूतकाल, भविष्यत्काल और वर्तमान काल) तीनों कालों में विद्यमान रहे उसे वस्तु कहते हैं। अर्थात् नित्य पदार्थ को वस्तु कहते हैं।

अवस्तु : जो तीनो कालो में न रहे वह अवस्तु है, जैसे अज्ञानादिसकलजड़समूह। अब अज्ञानादि के बारे में स्पष्ट करते हैं।

अज्ञानम् : शंकराचार्य जी ने अज्ञान के अर्थ में अविद्या तथा माया शब्द का भी प्रयोग किया है। माया जगत् की कारणभूता आदि शक्ति है। अज्ञान के लक्षण में अज्ञान के निम्न स्वरूप बताये गये हैं –

क) सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम् : अज्ञान को न सत् कहा जा सकता है और न असत्। यदि अज्ञान सत् (सर्वदा रहने वाला) है तो आत्मज्ञान के बाद उसका विनाश नहीं होना चाहिए और यदि असत् है तो आकाशपुष्प की भाँति उसकी संसार में सत्ता की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। अतएव अनिर्वचनीय है।

ख) त्रिगुणात्मकम् : जैसे सांख्याचार्य त्रिगुणात्मिक को प्रकृति को मानते है उसी प्रकार वेदान्ती अज्ञान को मानते हैं।

ग) ज्ञानविरोधि : अज्ञान आकाश की तरह व्यापक होने के बाद भी कहीं साक्षात्कार के अनन्तर निवृत्त हो जाता है।

घ) भावरूपम् : वेदान्तविदों के मत में अज्ञान ज्ञान का अभावरूप नहीं है। अपितु ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। यदि अज्ञान भावरूप नहीं होता तो उसकी निवृत्ति की आवश्यकता ही नहीं होती।

ङ) यत्किञ्चित् : यद्यपि अज्ञान त्रिगुणात्मक है, भावरूप है तथापि वह ''ऐसा ही है'' ''यही है'' इस प्रकार निश्चय नहीं किया जा सकता। इसीलिए इसे यत्किञ्चित् कहा जाता है।

अब अज्ञान के दो और स्वरूप बताते हैं –

1. समष्टि (समूह) : जिस प्रकार वृक्षों के सामूहिक रूप का अभिधान वन नाम से किया जाता है, वैसे ही विभिन्न नदी तालाबों के जलों को सामूहिक रूप से जलाशय कहते हैं। इसी प्रकार भिन्न–भिन्न प्रतीत हुए जीवगत अज्ञानों के लिए समष्टि रूप में ''अज्ञान'' शब्द का प्रयोग होता है। इसीलिए ''अजामेकाम्'' कहकर अज्ञान के एकत्व को बताया है। यह अज्ञान उत्कृष्ट की अर्थात् ज्ञानात्मक चैतन्य की उपाधि है। समष्टिभूत अज्ञान सतोगुण प्रधान है। इससे युक्त जगत्साक्षी ईश्वर माना जाता है। इसी को कारण शरीर या आनन्दमय कोश कहते हैं।

2. व्यष्टि (व्यक्ति) : अज्ञान को व्यष्टि रूप में वर्णित करते हैं तो वन के स्थान पर पृथक् पृथक् वृक्षों के आम, बेर, जामुन, पीपल, बरगद इत्यादि नाम से व्यवहार करते हैं। उसी प्रकार जलाशय के स्थान पर वापी, कूप, तड़ाग आदि स्वतन्त्र रूप से उनमें बहुत्व का व्यवहार करते हैं। तब यह अज्ञान व्यष्टि रूप में सत्वगुण की मलीनता से युक्त होता है। इससे युक्त जीव कहा जाता है। इस सांसारिक प्रपंच का बोध अनुभूति अज्ञान के कारण होती है। इसमें अज्ञान की शक्तियों के दो भेद बताए गए हैं। 1. आवरण शक्ति, 2. विक्षेप शक्ति।

   1. आवरण शक्ति : यह आवरणशक्ति जीव (प्रमाता) की दृष्टि को आच्छादित करने वाली है। जिसके कारण उसे परमात्मा का बोध नहीं होता है। जिस प्रकार मेघ (बादल) का एक छोटा सा टुकड़ा आँखों के सामने आकर हमारी आँखों को ढ़क देता है तो इतने बड़े सूर्य को इस टुकड़े ने ढक दिया, यह हम अपनी मूर्खता के कारण मान लेते हैं। वैसे ही आवरणशक्ति जीव की बुद्धि पर पर्दा डाल देती है जिससे हम सर्वव्यापक परमात्मा को ढका हुआ है, ऐसा मान लेते हैं तथा उसे देख नहीं पाते हैं। कहा गया है –

      घनन्छन्नदृष्टिः घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढ़ः।
      तथा वद्धवद्भाति यो मूढ़दृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोहमात्मा।।

   2. विक्षेपशक्ति : यह विक्षेप सूक्ष्म से लेकर स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् संसार को उत्पन्न करने वाली है। जैसे रस्सी में साँप का भ्रम होने के बाद तरह तरह की आशंकायें उस रस्सी में होने लगती है; जैसे यह साँप जीभ निकाल रहा है, मेरी तरफ आ रहा है, फुफकार लगा रहा है इत्यादि; वैसे ही विक्षेप शक्ति संसार का निर्माण करके यह पेड़ है, यह तालाब है, यह मेरे सगे सम्बन्धी इत्यादि का बोध कराने लगता है।

9.4.3 लिङ्गशरीर

लिङ्गशरीर को ही सूक्ष्म शरीर भी कहा जाता है। तमोगुण प्रधान विक्षेपशक्ति के द्वारा मायोपहित चैतन्य से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। लय के समय ठीक इसी क्रम से पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वयु में, वायु आकाश में मिल जाता है। ''तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यात् आकाशः आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः अग्नेरापः अप्भ्य पृथिवी चोत्पद्यते।'' लिङ्गशरीर में कुल सत्रह अवयव होते हैं। इन्हीं से लिङ्ग शरीर का निर्माण होता है।

वेदान्तसार में लिङ्गशरीर के बारे में लिखते हैं – ''सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, वायुपञ्चकञ्चेति। ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणख्यानि। बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरण वृत्तिः। मनोनाम संकल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। कर्मेन्द्रियाणि वाक्यपाणिपादपायूपस्थाख्यानि। वायवः प्राणापादव्यानोदानसमानाः'' लिङ्ग शरीर के सत्रह तत्वों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, चर्म, आँख, जीभ, नाक) बुद्धि, मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पैर, गुदा, लिङ्ग) पाँच वायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) सम्मिलित हैं। लिङ्ग शरीर से ही तीन कोशों का निर्माण होता है। ये हैं – विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश, प्राणमयकोश।

क) विज्ञानमयकोश : ज्ञानेन्द्रियों से युक्त बुद्धि को विज्ञानमयकोश कहते हैं।

ख) मनोमयकोश : ज्ञानेन्द्रिय से युक्त मन को मनोमयकोश कहते हैं।

ग) प्राणमयकोश : पाँच वायु एव पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त को प्राणमयकोश कहते हैं।

9.4.4 पञ्चीकरणप्रक्रिया

वेदान्तसार में पञ्चीकरण प्रक्रिया एक महत्वपूर्ण विषय है। सृष्टि के विकास के लिए पाँचों महाभूतों का परस्पर सम्मिश्रण पञ्चीकरण कहलाता है। इस संदर्भ में एक सुप्रसिद्धकारिका है।

> द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
> स्वस्वेतरद्वितीयांशैः योजनात् पञ्च पञ्च ते।।

पञ्चीकरण पाँच महाभूतों का होता है। जैसे यदि पार्थिव सृष्टि का पञ्चीकरण प्रक्रिया करनी हो तो आधा अंश पृथिवी का आठवाँ अंश जल का, आठवाँ अग्नि का, आठवाँ वायु का आठवाँ आकाश, इस तरह पाँचमहाभूतों के तत्त्व से बना हुई पार्थिव सृष्टि होती है। इसी प्रकार अन्य में भी जानना चाहिए। पञ्चीकरण प्रक्रिया से ही स्थूल प्रपञ्चों का निर्माण होता है जो स्थूलप्रपंच कहलाते हैं। इस प्रक्रिया से उत्पन्न शरीर चार प्रकार के होते है। 1. जरायुज, 2. अण्डज, 3. उद्भिज्ज, 4. स्वेदज।

9.4.5 अपवाद

किसी सत्य वस्तु में भ्रमवश जो असत्य वस्तु का अध्यारोप कर लिया जाता है, उस भ्रम को हटाकर सत्य वस्तुमात्र की स्थापना करना अथवा ज्ञान करना अपवाद कहलाता है। यह मिथ्याप्रतीति रूप अन्यथाभाव दो प्रकार का होता है।

1. परिणाम : सतत्त्व तु अन्यथाप्रथाविकार इत्युदीरितः – अर्थात् जब कोई धातु अपने स्वरूप को त्यागकर किसी अन्य रूप को ग्रहण कर लेती है, तो उसे परिणामवाद या विकारवाद कहते हैं। जैसे– दूध से दही का रूप ग्रहण होना।

2. विवर्तवाद : अतत्त्वतो अन्यथाप्रथाविर्वत इत्युदीरितः – अर्थात् जब किसी पदार्थ में अयथार्थ मिथ्या प्रतीति के कारण दूसरे स्वरूप में प्रतीति होती है तो विवर्त कहा जाता है। जैसे – रस्सी में सर्प का भ्रम होना।

9.4.6 जीवन्मुक्त लक्षण

जीवन्मुक्त होना उस अवस्था को कहते हैं जब गुरु के उपदेश, श्रुति वाक्य तथा अपने अनुभवों से आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है, तो उस ज्ञान के द्वारा

आत्मगत सकल अज्ञान नष्ट हो जाने के कारण अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है –

> भिद्यते हृदयग्रन्थिः, छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

9.5 भारतीय दर्शन परम्परा में सदानन्द एवं उनका वेदान्तसार

सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसा–वेदान्त इन षड्दर्शनों में से वेदान्त एक प्रमुख दर्शन है, इसे उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। इन सभी दर्शन सूत्रात्मक वेदान्तदर्शन की रचना बादरायण व्यास ने की है। इस सूत्रात्मक वेदान्तदर्शन पर द्वैतदृष्टि से तथा अद्वैतदृष्टि से अनेक व्याख्यायें लिखी गई। अद्वैत दृष्टि से व्याख्या करने वालों में सर्वप्रमुख व्याख्याकार आचार्य शङ्कर भगवत्पाद हैं। तभी से वेदान्त दर्शन के दो प्रकार हुए। उनमें से अद्वैतसम्प्रदाय को ही अद्वैत वेदान्त या शाङ्कर दर्शन वेदान्तशास्त्र या वेदान्त दर्शन को समस्त दर्शनों का मुकुटमणि समझा जाता है। शंकर–पूर्वाकालिक दार्शनिक–प्रवृत्तियों तथा तार्किक–उपनिषदों में वेदान्त शब्द का प्रयोग श्रुतियों के चरम सिद्धान्त के अर्थ में उपलब्ध होता है। 'वेदान्त' संज्ञा उपनिषदों को ही प्राप्त हुई है। वेदों के ब्रह्मप्रतिपादक अन्तिमभागरूप उपनिषद् ही 'वेदान्त' है। उपनिषदों के अर्थ का निर्णय ब्रह्मसूत्रों से किया जाता है। इस कारण ब्रह्मसूत्रों को भी 'वेदान्त' शब्द से अभिहित किया जाता है। वेदान्त–प्रतिपादित समस्त सिद्धान्तों का मूलाधार 'उपनिषद्' ही है। वेदों के रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन उपनिषदों में उपलब्ध होने के कारण इन उपनिषदों को ही 'वेदान्त' कहा जाने लगा। इनमें आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व, ईश्वरतत्त्व तथा जीव, जगत् एवं सत्ता पर विचार किया गया है; जो इस प्रकार है :

आत्मतत्त्व विचार : यह जगत् अनुभूति पर ही अवलम्बित है। जगत् के समस्त व्यवहार अनुभव का अवलम्बन कर ही चलते रहते हैं। अनुभूति के इन विविध स्तरों में आत्मा की 15 सत्ता स्वयं सिद्धि है। जिस सूर्य के प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, उस सूर्य को आत्मा को किस प्रमाण से सिद्ध किया जा सकेगा? अतः आत्मा स्वयंसिद्ध है।

ब्रह्मतत्त्वविचार : निर्विकल्प, निरुपाधिक और निर्विकार आत्मसत्ता को ही 'ब्रह्म' कहते हैं। भगवती श्रुति बता रही है – ब्रह्म ही परमार्थतः सत्य है और वही ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त भी है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य यही निर्गुण–निर्विकार ब्रह्म है। आचार्य शंकरभगवत्पाद ने ब्रह्म के स्वरूपनिर्णयार्थ दो प्रकार के लक्षण किये हैं – 1. स्वरूपलक्षण और 2. तटस्थलक्षणम्।

'स्वरूपं सत् व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम् – अर्थात् पदार्थ के सत्य तात्त्विक स्वरूप का परिचय करते हुए अन्य पदार्थों से पृथक् करने वाला जो लक्ष्य हो उसे स्वरूपलक्षण कहते हैं। जैसे – 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' 2. यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्त्वे सति व्यावर्तकत्वंतटस्थलक्षणम्।। जैसे – अखिलाधारम् ब्रह्म।

इस संदर्भ में विवर्तन एवं माया को भी यहाँ संक्षेप में जान लेना प्रासंगिक होगा जिनके निवारण के उपरांत ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

विवर्तवाद : कारण के असत्य और काल्पनिक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दीक्षितेन्द्र ने कहा है कि तत्त्व का असत्य तथा भ्रामक परिवर्तन यानी तत्त्व के अतात्त्विकभाव को 'विवर्त' संज्ञा दी गयी है। यह विवर्त या परिवर्तन वास्तविक न होकर मन के द्वारा आरोपित रहता है, इस मानसिक आरोप को ही आचार्य 'अध्यास' कहते हैं।

माया और अविद्या : इस एकमेव – अद्वितीय, निर्विशेष और अनिर्वचनीय ब्रह्म से नामरूपात्मक सविशेष और सलक्षण जगत् की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई? इसका उत्तर आचार्य शंकरभगवत्पाद ने मायावाद के आधार पर दिया है। माया की दो शक्तियाँ होती हैं– 1. आवरणशक्ति और 2. विक्षेप–शक्ति। ब्रह्म के शुद्धस्वरूप को आवरणशक्ति ढ़क देती है और विक्षेपशक्ति उस ब्रह्म पर आकाशादि भौतिक जगत् को उत्पन्न करती है। इस पर इसी इकाई में विस्तार से चर्चा हो चुकी है।

ईश्वरतत्त्व विचार : यही निर्विशेष ब्रह्म, जब माया के द्वारा आवृत होने पर सविशेष होता है और सगुणभाव को प्राप्त होता है तब उसे ईश्वर कहते हैं। विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय का वही कारण है। अद्वैतदर्शन के अनुसार सर्वज्ञ, सर्वकाम, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, जगत्कारण आदि समस्त विशेषण ईश्वर के ही हैं। सम्पूर्ण जगत् का वह साक्षी होने से उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं। समस्त जीवों को उनके तत्तत् कर्मानुसार फलप्रदान करने के कारण उसे 'सर्वेश्वर' कहते हैं। उसकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण हुई रहती हैं, इसलिए उसे सर्वकाम कहते हैं। समस्त जीवों को उनके अपने–अपने कर्मों की प्रेरणा देता रहता है, इसलिए उसे सर्वनियन्ता कहते हैं। समस्त जीवों के हृदय में रहकर उन्हें नियन्त्रित करता है, इसलिए उसे सर्वान्तर्यामी कहते हैं। चराचर विश्व का विवर्तरूप से अधिष्ठान है, इसलिए उसे जगत्कारण कहते हैं। जीव की भी यही स्थिति है। जीव और ब्रह्म दोनों में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है। इसीलिए कहा गया है – 'जीवो ब्रह्मैव नापरः।' ईश्वर मायावच्छिन्नचैतन्य है, तो 'जीव' अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है। दोनों चैतन्यरूपी ही हैं। उपाधि के कारण सीमित होने से उसे पृथक् नाम और पृथक् सत्ता प्राप्त हुई है। जीव की जाग्रत, स्वप्न और सुसुप्ति, ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। अवस्थात्रय के समान ही जीव के पंच कोश भी माने जाते हैं। अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय– ये पांच कोशों के नाम हैं।

जगद्विचार : ऐन्द्रजालिक की तरह ईश्वर अपनी माया शक्ति के द्वारा इस विचित्र सृष्टि का निर्माण करता है। यहीं पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह जगत् सत्य है या असत्य? आचार्य शङ्करभगवत्पाद ने 'सत्य' की व्याख्या इस प्रकार की है – ''यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्'' – जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, उस पदार्थ का वह रूप यदि सतत् व्यभिचरित न होता हुआ समभाव से विद्यमान रहे तो उसे 'सत्य' कहते हैं। अतः नित्य परिवर्तनशील या परिणामस्वरूपसम्पन्न यह जगत् सत्य नहीं है, यह स्पष्ट हो जाता है। यदि सत्य नहीं है, तो क्या उसे असत्य कहा जाय? इस प्रकार वेदान्तियों ने उत्तर दिया है कि नाम–रूप से युक्त और प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण यह नामरूपात्मक जगत् का मिथ्या है। 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि श्रुतिवचनों से 'जगत्' का मिथ्यात्व और 'ब्रह्म' का सत्यत्व बताया गया है।

सत्ताविचार : वेदान्तियों ने सत्ता तीन प्रकार की मानी है– 1. प्रातिभासिक, 2. व्यावहारिक, 3. पारमार्थिक।

1. प्रातिभासिक सत्ता : जो सत्ता, प्रतीतिकाल में सत्य प्रतिभासित होती है, किन्तु पश्चात् वह बाधित होती है, तो उसे 'प्रातिभासिक सत्ता' कहते हैं। जैसे रज्जु–सर्प, शुक्ति–रजत आदि।

2. व्यावहारिक सत्ता : यह 'विश्व' के समस्त व्यावहारिक पदार्थों में रहती है। विश्व के पदार्थों का कोई न कोई नाम होता है, कोई न कोई रूप भी होता है। नाम–रूपात्मक इन वस्तुओं की सत्ता, व्यवहार के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। व्यवहारकाल में ही उनका सत्यता रहने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की 'सत्ता' को 'व्यावहारिक सत्ता' कहते हैं।

3. 'पारमार्थिक सत्ता' वास्तविक सत्ता है। ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का यही मार्ग है। आचार्य शङ्कर ने अपने विवेकचूड़ामणि, उपदेशसाहस्री आदि ग्रन्थों में ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया को अत्यन्त रोचक भाषा में बताया है। ज्ञानप्राप्ति के लिए साधक को साधन–चतुष्ट्य से सम्पन्न होना चाहिये :

   - ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और तदतिरिक्त समस्त संसार अनित्य और असत्य है, इस विवेक का उदय।
   - ऐहिक पारलौकिक समस्त फलोपभोगों के प्रति तीव्र वैराग्य।
   - मन की एकाग्रता, इन्द्रिय – निग्रह, उपरति, तितिरक्षा, समाधान, गुरू और वेदान्तवाक्यों पर दृढ़–श्रद्धा एवं मुमुक्षुत्व इत्यादि गुणों का उदय होने पर मानव वेदान्तश्रवण का अधिकारी बन पाता है।
   - अधिकारसम्पन्न होने पर ब्रह्म वेत्ता गुरू के पास जाए और आत्मविषयक प्रश्न करे। तब गुरू उस शिष्य को 'तत्त्वमसि' आदिवाक्यों का उपदेश करे। उस उपदेश से शिष्य को जीव–ब्रह्मैक्य ज्ञान होता है और उसके संपूर्ण शोक–मोह नष्ट होकर उसे परमानन्द का अनुभव होता है। अद्वैतज्ञान के साधक के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन की नितान्त आवश्यकता है। इस तीनों को आत्मसात् करने पर ही उसका परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान में परिणत होता है। तब वह साधक 'अहं ब्रह्मास्मि' – मैं ही ब्रह्म हूँ, इस अनुभव की भूमिका पर आरूढ़ होता है – यही वेदान्त का साधनमार्ग है।

9.6 सारांश

वेदान्तसार एक ऐसा ग्रन्थ है जो सम्पूर्ण वेदान्त के तत्त्वों को ज्ञापित करने समर्थ है। यह ग्रन्थ लघुकाय है। इसमें वेदान्त के प्रमुख बिन्दुओं पर संक्षिप्त में प्रकाश डाला गया है। इसमें जो प्रमुख अंश दिये गये हैं, उससे निश्चित ही वेदान्त दर्शन में प्रवेश पाया जा सकता है। यद्यपि यह ग्रन्थ स्वयं अपने आप में भी वेदान्त दर्शन के तत्त्वों का सारभूत दार्शनिक तत्त्व विवेचित करने में समर्थ है, तथापि अधिक जिज्ञासु लोग इसके आधार पर वेदान्त के गूढ़ रहस्यों को भी जानने में पूर्ण सक्षम हो सकते हैं। आज प्रतियोगिता के दौर में एक विषय के ज्ञान में सम्पूर्ण उर्जा को समाप्त कर देना भी उचित नहीं है। अतः ''यत्सारभूतं तदुपासनीयम्'' अर्थात् प्रमुख तत्त्व की ही प्राप्ति ज्ञान करना चाहिए इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। वेदान्तसार के प्रतिपाद्य तत्त्वों पर आगामी इकाईयों में विस्तार से चर्चा भी आप पढ़ेंगे।

9.7 शब्दावली

1. अद्वैत : जिसमें केवल ब्रह्म सत्य हो उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् (संसार) असत्य हो ऐसा माना जाय।
2. द्वैत : जिसमें ब्रह्म को तथा संसार को सत्य माना जाय।
3. चिन्तनमुद्रा : जब किसी इष्ट को अपने मन में बैठाकर लगातार उसके बारे सोचते हैं तो उसे चिन्तन मुद्रा कहा जाता है।
4. ज्ञानेन्द्रिय : जिन इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जैसे—घ्राण (नाक) से गन्ध का ज्ञान, श्रोत (कान) से शब्द का ज्ञान, जिह्वा (जीभ) से रस का ज्ञान, चक्षु (आँख) से रूप का ज्ञान, त्वक् (चमड़ी) से शीतोषण का ज्ञान।
5. आकाशपुष्प : इसका तात्पर्य उस पदार्थ से होता है जो पदार्थ इस संसार में न कभी रहा है और न कभी रहेगा।
6. जीवन्मुक्त : जीवित रहते हुए भी जो मुक्त की तरह हो वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- वेदान्तसार की मुसलगाँवकर विरचित हिन्दी टीका
- वेदान्तसार, आचार्यबदरीनाथ शुक्ल विरचित हिन्दी टीका
- वेदान्तसार, सन्तनारायण श्रीवास्तव्य विरचित हिन्दी टीका

9.9 अभ्यास प्रश्न

1. वेदान्त के अनुबन्धचतुष्ट्य की विवेचना कीजिए?
2. अधिकारी के लक्षण में आये हुए विशेषणों की विवेचना कीजिए?
3. साधनचतुष्ट्य को स्पष्ट कीजिए?
4. आनन्दमय कोश के निर्माण में समागत तत्त्वों पर प्रकाश डालिए?
5. लिङ्ग शरीर में कितने तत्त्व होते हैं।
6. मनोमय कोश का निर्माण कैसे होता है?
7. विवर्तवाद क्या है?
8. परिणामवाद एवं विवर्तावाद में भेद स्पष्ट कीजिए?
9. पञ्चीकरण प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं।
10. शरीर कितने प्रकार का होता है।
11. भिद्यते हृदयग्रन्थिः – इस कारिका से किसको स्पष्ट किया गया है।

इकाई 10 अनुबन्धचतुष्टय

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- वेदान्त क्या है इसको समझ सकेंगे।
- वेदान्तसार में वर्णित साधनचतुष्टय की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- अधिकारी पद के अभिप्राय को समझते हुए उसके लक्षणों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- विभिन्न प्रकार के कर्मों की अवधारणा को जान सकेंगे।
- वेदान्तसार में वर्णित विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन की अवधारणा को समझ सकेंगे; तथा
- विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन के लक्षणों को समझ सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

भारतीय परम्परा के अनुसार ग्रन्थों के प्रारम्भ में अधिकारी, सम्बन्ध, विषय तथा प्रयोजन का प्रतिपादन किया जाता है। सामान्यतया ग्रन्थ इन्हीं बिन्दुओं से प्रारम्भ होते हैं। सदानन्द योगीन्द्र भी जब अपना ग्रन्थ वेदान्तसार लिखते हैं तो उसको भी वे इसी बिन्दु से प्रारम्भ करते हैं। बहुधा अध्येताओं के मन में यह विषय कौंधता है कि इन चार का प्रतिपादन करने का क्या औचित्य है? सचमुच में इनका प्रतिपादन आवश्यक भी है या नहीं? भारतीय दार्शनिक परम्परा तथा संस्कृत में रचित ग्रन्थों की रचनाशैली से अपरिचित व्यक्तियों को यह बहुधा अटपटा सा भी प्रतीत होता है। अनेक बार तो लोगों को ग्रन्थ में इसका प्रतिपादन नितान्त अप्रासंगिक सा प्रतीत होता है। इन सारी आशंकाओं का समाधान इस पाठ के माध्यम से किया जायेगा। इस पाठ के माध्यम से भारतीय दार्शनिक परम्परा से भी आप परिचित हो सकेंगे। संस्कृत ग्रन्थों की रचना करने की प्रक्रिया से भी आप परिचित हो सकेंगे तथा ग्रन्थ के आरम्भ में इन चार के प्रतिपादन का औचित्य तथा संगति क्या है इससे भी परिचित हो सकेंगे। इस पाठ में अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन के विषय में विवेचन तथा प्रतिपादन किया जा रहा है।

10.2 अनुबंधचतुश्टय – अखण्डं सच्चिदानन्द से प्राह'' इत्यादिश्रुतेः पर्यन्त।

अनुबंध चतुष्टय पर विचार से पूर्व ग्रंथकार मंगलाचरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें अभिधेय सचिदानंद का स्वरूपचित्रण किया गया है :

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये।1।

व्याख्या : मैं सदानन्द योगीन्द्र अखण्ड यानी किसी भी प्रकार के विभाग से रहित, सच्चिदानन्द सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप, वाणी तथा मन से अगोचर, वाणी तथा मन के द्वारा विषय नहीं होनेवाले उस प्रत्यगात्मा का आश्रय ग्रहण करता हूँ जो समस्त जगत् का आधार है।

विशेष : यहाँ पर सच्चिदानन्द को किसी भी प्रकार के विभाग से रहित बताते हुए यह बताया गया कि ब्रह्मन् में सजातीय, विजातीय तथा स्वगत किसी भी प्रकार का कोई भेद नहीं है। मन तथा वाणी से अगोचर कहते हुए मन तथा वाणी के द्वारा उसकी अगम्यता बतायी गयी तथा समस्त जगत् का आधार बताते हुए उसको मिथ्या प्रपंच का आधार होने के कारण के कारण उसी की तात्त्विकता बतायी।

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः। गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति।।

व्याख्या : अपने नाम के अर्थ के अनुसार भी जो यथानाम तथा गुण उक्ति को सार्थक करते हुए सभी प्रकार के द्वैतावभास, भेदबुद्धि के तिरोहित हो जाने के कारण अद्वयानन्द हैं, ऐसे गुरु की श्रद्धापूर्वक आराधना कर वेदान्तों के सार को मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा।

विशेष : अपने गुरु को अर्थ से भी अद्वयानन्द बताते हुए यहाँ पर ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गुरु को ब्रह्मज्ञान हो चुका है।

वेदान्तपदार्थ : वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्राणि च। अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात् तदीयैः एव अनुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेः न ते पृथगालोचनीयाः।।

व्याख्या : प्रमाणभूत उपनिषद् ही वेदान्त हैं तथा उन उपनिषदों के उपकारक शारीरकसूत्र भी वेदान्त हैं। यह वेदान्त का प्रकरणग्रन्थ है, इस कारण वेदान्त के ही अनुबन्धों से ही इसके अनुबन्ध भी सिद्ध हो जाते हैं, इस कारण इसके अनुबन्ध अलग से आलोचनीय नहीं हैं।

विशेष : वेदान्त का अभिप्राय है आत्मा में प्रमाणभूत उपनिषद् तथा उन उपनिषदों का अनुसरण करनेवाले शारीरक सूत्र। आत्मा के स्वरूप के विषय में उपनिषद् ही प्रमाण हैं। उपनिषदों के द्वारा ही आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो पाता है, इस कारण उपनिषदों का ही आत्मा के स्वरूप के विषय में प्रामाण्य है। उन्हीं उपनिषदों का अनुसरण करनेवाले हैं ब्रह्मसूत्र या शारीरकसूत्र। इसको शारीरकसूत्र नाम देने के पीछे आधार यह है कि शरीर को ही कहते हैं शरीरक। शरीरक में रहनेवाला जो है वही है शारीरक। इस अद्वैतवेदान्त दर्शन में आत्मा को ही ब्रह्म के रूप में स्थापित किया गया है, आत्मा शरीर में ही रहनेवाला है। इस कारण ब्रह्मसूत्र का दूसरा नाम शारीरक सूत्र भी है। वेदान्तसार ग्रन्थ का अधिकारी कौन है? या इसका सम्बन्ध, विषय तथा प्रयोजन

क्या है? इन प्रश्नों पर विचार करने के क्रम में यह बात निष्कर्ष के रूप में आती है कि यह ग्रन्थ वेदान्तों के सार का विवेचन करने के लिए या वेदान्तों के सार का संग्रह करने के लिए लिखा गया है तो इस ग्रन्थ के भी अनुबन्ध वही हो सकते हैं जो वेदान्तों के अनुबन्ध हों। यह ग्रन्थ वेदान्त का प्रकरण ग्रन्थ है इस कारण वेदान्त के जो अनुबन्ध हैं वही अनुबन्ध इस ग्रन्थ के भी हो सकेंगे। कोई दूसरे अनुबन्ध नहीं हो सकते। इसी कारण वेदान्तसार के लेखक सदानन्द योगीन्द्र ने उन अनुबन्धों को ही इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में संकलित कर दिया है।

तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि।

व्याख्या : अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन इन्हीं को अनुबन्ध कहा जाता है।

विशेष : अभी भी जब कोई व्यक्ति किसी ग्रन्थ का प्रणयन करता है तो यह ध्यान में रखता है कि वह व्यक्ति अपना ग्रन्थ किसके लिए लिख रहा है? उस ग्रन्थ का अध्येता कौन होगा? उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या होगा? साथ ही साथ यह ही ध्यान में रखता है कि इस ग्रन्थ का प्रयोजन क्या है? इस कारण आधुनिक चिन्तन के अनुसार भी किसी भी ग्रन्थ में इन तीन बातों का निर्देश प्रमुख रूप से किया जाना आवश्यक होता है प्रथम यह कि वह ग्रन्थ किसके लिए लिखा जा रहा है यानी कि वह ग्रन्थ किन अध्येताओं को उद्देश्य कर रहा है। द्वितीयतः उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है, वे कौन से बिन्दु हैं जिनके विवेचन पर वह ग्रन्थ केन्द्रित है। तृतीयतः उस ग्रन्थ का प्रयोजन क्या है यानी उस ग्रन्थ के अध्ययन से पढ़ने वाले का क्या लाभ सम्भाव्य है। ग्रन्थों के आधुनिक लेखक भी इन तीन विषयों का ध्यान विशेष रूप से रखते हैं। इन बातों का ध्यान न रखते हुए ग्रन्थ का लेखक यदि किसी व्यक्ति के द्वारा किया जाता है तो ग्रन्थ न तो विद्वत्समुदाय में समादर का भाजन बनता है और न ही वह ग्रन्थ अध्येताओं के बीच में ही लोकप्रिय हो पाता है। इसी कारण बहुधा लेखक अपने ग्रन्थ की भूमिका में इन बिन्दुओं का उल्लेख कर दिया करते हैं। इनको ही भारतीय परम्परा में अनुबन्ध नाम से जाना जाता है। साथ ही भारतीय ग्रन्थों के निर्माण की शैली में इन तीन अनुबन्धों में एक अन्य अनुबन्ध भी जोड़ दिया जाता है तथा इन चारों को अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन इस प्रकार से अनुबन्ध चतुष्टय इस नाम से जाना जाता है। वेदान्तसार के लेखक सदानन्द योगीन्द्र ने इसी बात को यहाँ स्पष्ट किया है।

वेदान्तों के द्वारा ज्ञान किसको हो सकता है? क्या कोई भी वेदान्तों को पढ़कर ज्ञान प्राप्त कर सकता है? तो नहीं हर किसी को वेदान्तों के द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार कोई भी ग्रन्थ पढ़कर हर कोई उसके अभिप्राय को समझ नहीं सकता, दसवीं कक्षा में पढायी जानेवाली पुस्तक को क्या प्रथम कक्षा में पढनेवाला विद्यार्थी बुद्धिगम्य कर सकता है? बिलकुल ही नहीं। उसी प्रकार वेदान्तों से हर कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। केवल उनको ही वेदान्तों के द्वारा ज्ञान हो सकता है जो आगे बतायी जाने वाली शर्तों को पूरा करते हैं। वे ही इस विषय के अध्ययन के अधिकारी हैं

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टय–सम्पन्नः प्रमाता।

व्याख्या : वेदान्त का अधिकारी साधन चतुष्टय से सम्पन्न वह प्रमाता है जिसने विधिपूर्वक वेदों तथा वेदाङ्गों का अध्ययन कर लेने के कारण प्राथमिक रूप से समस्त वेदों के अर्थों को अधिगत कर लिया है, जिसने इस जन्म में या पिछले जन्म में काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का वर्जन करते हुए नित्य तथा नैमितिक कर्मों, प्रायश्चित्त व उपासना के अनुष्ठान के द्वारा समस्त कल्मषों का निर्गमन करते हुए अपने अन्तःकरण को नितान्त निर्मल कर लिया है।

विशेष : वेदान्तसार के लेखक सदानन्द योगीन्द्र अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही वेदान्त के अधिकारी का विवेचन करते हुए स्पष्ट करते हैं। यहाँ प्रथमतया जिसके लिए ग्रन्थ का निर्माण किया जाता है, उसके लिए अधिकारी शब्द का प्रचलन में है। अधिकारी शब्द को बहुधा गलत अर्थ में समझ लिया जाता है। परन्तु अधिकारी का अभिप्राय मात्र इतने से है कि वह कौन सी योग्यताएँ हैं जिनके होने से व्यक्ति को वेदान्त का ज्ञान सम्भव हो पाता है। इन्हीं योग्यताओं के विषय में वेदान्तसार में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है कि अधिकारी कौन हो सकता है? इसके लिए सदानन्द योगीन्द्र ने कई एक शर्तें प्रस्तुत की हैं। परन्तु उन शर्तों को उस क्रम से नहीं प्रस्तुत किया है जिस क्रम से उनका प्रस्तुतीकरण अधिक बोधगम्य होता। अधिकारी का यह विवेचन वेदान्त के अधिकारी के विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण बात प्रस्तावित करता है। इन योग्यताओं को क्रमशः रखा जा सकता है। इस विवेचन के माध्यम से ग्रन्थकार ने जो बात स्पष्ट की है कि वह यह कि प्रमाता अधिकारी है परन्तु हर कोई प्रमाता अधिकारी नहीं है। केवल वही प्रमाता अधिकारी है जो साधन चतुष्टय से सम्पन्न हो। ये चार साधन हैं नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग (ऐहिक तथा आमुष्मिक फलों के भोग से वैराग्य), शमादिषट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व। इनका विवेचन हम आगे करेंगे। परन्तु इन चार साधनों से सम्पन्न वही प्रमाता हो सकता है जिसका चित्त नितान्त निर्मल हो चुका हो। चित्त का निर्मलीकरण किस प्रकार से सम्भव है उसके लिए भी साधनों को यहाँ पर बताया गया है।

अन्तःकरण के निर्मलीकरण की प्रक्रिया : हमारा अन्तःकरण स्वभावतः ही विभिन्न कल्मषों से ग्रस्त होता है। इसमें राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा इत्यादि बहुत सारे दोष स्वभावतः होते हैं। ये सब अन्तःकरण के मल हैं। व्यक्ति का अन्तःकरण इन दोषों से मुक्त हो जाये तो पहली शर्त पूरी हो जाती है। परन्तु अन्तःकरण निर्मल किस प्रकार से हो सकता है? इस अन्तःकरण के निर्मलीकरण का साधन है काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का वर्जन करते हुए नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना का अनुष्ठान करना। हमारी कामनाएं अनियन्त्रित होती हुई हमारे अन्तःकरण के दोषों (मलों) की अभिवृद्धि ही करती हैं। अन्तःकरण में यदि मल हैं तो व्यक्ति आत्म तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर सकता। अतः इन दोषों का निवारण आवश्यक है। इन मलों की निवृत्ति की प्रक्रिया यह होगी कि हम नवीन मलों का संचय न करें तथा पूर्वसंचित मलों का क्षय करें। इस कार्य के लिए आवश्यक होता है कि हम काम्य तथा निषिद्ध का वर्जन करें तथा उसके साथ–साथ नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना का अनुष्ठान करें। किसी किसी व्यक्ति में इन मलों का निवारण इस जन्म में काम्य तथा निषिद्ध का वर्जन पूर्वक नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना के अनुष्ठान के माध्यम से हो सकता है तथा किसी व्यक्ति में इस जन्म में काम्य तथा निषिद्ध का वर्जन पूर्वक नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना के अनुष्ठान के न दिखायी देने पर भी अन्तःकरण के मलों की निवृत्ति देखी जाती है। इस कारण दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों की अधिकारिता को स्वीकार किया जाता है। उसके लिए विधिपूर्वक वेदों तथा वेदाङ्गों का अध्ययन

आवश्यक है क्योंकि विधिपूर्वक वेदों तथा वेदाङ्गों का अध्ययन कर लेने से कौन से कर्म नित्य हैं, नैमित्तिक हैं, काम्य हैं या निषिद्ध हैं, इसका निश्चय सही तरीके से सम्भव हो पाता है। कर्मों के स्वरूप के विषय तथा प्रकार के विषय ज्ञान के हुए विना निषिद्ध कर्मों तथा काम्य कर्मों का परिवर्जन और नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का समुचित रूप से अनुष्ठान सम्भव नहीं है। इस प्रकार से देखा जाये तो अधिकारी होने के लिए दो शर्तें हैं; पहली यह कि उस व्यक्ति का अन्तःकरण निर्मल हो। दूसरी शर्त यह है कि वह व्यक्ति साधनचतुष्टय से सम्पन्न प्रमाता हो। ये दोनों शर्तें जिस व्यक्ति के द्वारा पूरी कर ली गयी हैं वही व्यक्ति वेदान्त शास्त्र का अधिकारी माना जायेगा।

कर्मों के भेद : काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। नित्यानि अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि। प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।

व्याख्या : काम्य कर्म हैं स्वर्ग आदि इष्ट के साधन ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ। निषिद्ध कर्म हैं नरक आदि अनिष्ट के साधन ब्राह्मणहनन आदि। नित्य कर्म वे हैं जो न करने पर प्रत्यवाय के साधन बनते हैं जैसे सन्ध्या वन्दन आदि। नैमित्तिक कर्म हैं पुत्रजन्म आदि से अनुबद्ध जातेष्टि याग इत्यादि कर्म। पापक्षय के साधन चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्त कर्म हैं। सगुण ब्रह्मविषयक मानस व्यापार रूपी शाण्डिल्यविद्या आदि उपासनाएँ हैं ।

विशेष : यहां यह बताया गया है कि यह कर्मों का विवेचन अन्तःकरण के निर्मलीकरण की प्रक्रिया है। इनमें काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का परिवर्जन करना है तथा नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासना आदि कर्मों का अनुष्ठान करना है। इस कारण इनके विषय में यहाँ पर बताया जा रहा है। परम्परागत रूप से कर्मों का तीन प्रकार से भेद किया जाता है नित्य–नैमित्तिक, काम्य तथा निषिद्ध। इन कर्मों के स्वरूप के विषय में परिज्ञान करने के लिए ही विधिपूर्वक वेदों तथा वेदाङ्गों का अध्ययन कर लेने के कारण प्राथमिक रूप से समस्त वेदों के अर्थों को अधिगत कर लेना अपेक्षित है। वेदों के द्वारा ही समस्त कर्मों के स्वरूप का परिज्ञान हो सकता है। उसका परिज्ञान होने पर ही कर्तव्य कर्म का आचरण तथा निषिद्ध और काम्य कर्मों का परिवर्जन सम्भव है, अन्यथा नहीं। नित्य तथा नैमित्तिक कर्म अनिवार्यतया करणीय हैं। इन कर्मों का परिवर्जन पापकारी होता है, इन कर्मों को न करने से पाप होता है। इसको इस रूप में समझा जा सकता है कि कुछ कर्म ऐसे हैं जिनको अनिवार्यतया करने का विधान है। सैद्धान्तिक स्थिति यह है कि इन कर्मों को करने से कोई पुण्य नहीं होता। परन्तु ये कर्म ऐसे हैं जिनको करना आवश्यक है। इनको कर्तव्य कर्म के रूप में स्वीकृति दी गयी है। जैसे प्रतिदिन किये जानेवाले सन्ध्या–वन्दन आदि कार्य नित्य कर्म कहे जाते हैं। सन्ध्यावन्दन नियम से प्रतिदिन करने का विधान है। प्रतिदिन त्रिकाल सन्ध्या का विधान है। यानी प्रातःकाल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल में सन्ध्या करने का विधान किया गया है। यदि कोई व्यक्ति सन्ध्यावन्दन नहीं करता है तो वह प्रत्यवाय को प्राप्त करता है। यही नित्य कर्म वही है जिसको न करने से पाप होता है। प्रत्यवाय का तात्पर्य पाप से है। यदि कोई व्यक्ति नित्य–कर्तव्य सन्ध्यावन्दन आदि का अनुष्ठान आलस्यवश नहीं करता है तो वह पाप का भागीदार बनता है। इसलिए सन्ध्यावन्दन आदि कर्म नित्य, नियमतः करणीय होने के कारण नित्य कर्म कहे जाते हैं। इसी प्रकार से नैमित्तिक कर्म भी हैं। नैमित्तिक शब्द निमित्त शब्द से व्युत्पन्न होता है। इन्हीं

निमित्तों से सम्बद्ध होने के कारण इन कर्मों को नैमित्तिक कर्म कहा जाता है। नैमित्तिक कर्म भी अवश्य–कर्तव्य हैं परन्तु अवश्य–कर्तव्य होने पर भी वे नित्य कर्तव्य नहीं हैं क्योंकि वे किन्हीं निमित्तों के उपस्थित होने पर ही कर्तव्य हैं। जैसे पुत्रजन्म आदि के अवसरों के उपस्थित होने पर अवश्य–कर्तव्य जातेष्टि याग आदि। जातेष्टि कर्म प्रतिदिन नहीं करणीय है बल्कि केवल तभी करणीय है जब पुत्र की उत्पत्ति हो। इसके विपरीत नित्य कर्म हमेशा ही करणीय होते हैं। ये दोनों ही प्रकार के कर्म नित्य तथा नैमित्तिक आवश्यक रूप से कर्तव्य हैं। इनको न करने से प्रत्यवाय होता है, पाप होता है। नित्य तथा नैमित्तिक कर्म वेद विहित हैं, कर्तव्य के रूप में इनको निर्देशित किया गया है।

नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों की ही तरह कुछ अन्य कर्मों को करने का भी विधान वेदों में प्राप्त होता है। परन्तु ये कर्म नित्य या नैमित्तिक नहीं कहे जाते अपितु काम्य कर्म कहे जाते हैं। इन कर्मों का अधिकारी कामनावान् पुरुष है, जिसको उन कर्मों के फलों को प्राप्त करने की इच्छा हो, ऐसा कामनावान् पुरुष उन कर्मों को करने के लिए अधिकृत होता है। ऐसे कर्मों को काम्य कर्म कहा जाता है। वस्तुतः ऐसे कर्म काम्य कर्म कहे जाते हैं जो स्वर्ग आदि इष्ट के साधन होते हैं। जैसे कि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ। काम्य कर्मों को करने का विधान यद्यपि श्रुतियों में ही प्राप्त होता है तथापि काम्य कर्म वस्तुतः उन व्यक्तियों के लिए करणीय नहीं हैं मोक्ष को प्राप्त करना चाहते हों। उनके लिए इनका परिवर्जन करना ही अपेक्षित है। इसका कारण यह है कि यदि व्यक्ति कामनायुक्त होता हुआ वेदों में जिन काम्य कर्मों का विधान किया गया है, उनको करता है तो उन कर्मों के फलों को भोगने के लिए उसकी प्रतिबद्धता होगी, वह तब तक मुक्त नहीं हो सकेगा जब तक कि उसके कर्मों का फल शेष है। यदि व्यक्ति को कामना है तो वह व्यक्ति उन कामनाओं की पूर्ति के लिए कर्म करे, परन्तु वही कर्म करे जो कि शास्त्रविहित हैं। परन्तु इस बात के लिए तैयार रहे कि वह उन काम्य कर्मों को करने के कारण उनके फलों को भोगने के लिए बाध्य है। फलतः वह व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता है। जब तक कामनाएं शेष हैं तब तक व्यक्ति मुक्ति को नहीं प्राप्त कर सकेगा। इसी कारण मोक्ष की इच्छा करने वाले मुमुक्षु के लिए जिस प्रकार से निषिद्ध कर्मों का परित्याग अपेक्षणीय है उसी प्रकार से काम्य कर्मों का परित्याग भी अपेक्षणीय है। शास्त्रों में अनेक कर्मों को करने के लिए निषेध भी किया गया है जैसे ब्राह्मणहत्या, चोरी, अनाचार आदि कर्म। यद्यपि ब्राह्मणहत्या को निषिद्ध कर्म कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य की हिंसा अनुमत है। बल्कि इसका तात्पर्य मात्र निषेध का उत्कर्ष बताने से है। हत्या निषिद्ध इसलिए है क्योंकि हत्या नरक आदि अनिष्ट का साधन बनती है। यह आवश्यक नहीं है कि हत्या से नरक की प्राप्ति होगी ही। कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसी पाप का अनुष्ठान कर लेने के उपरान्त राजा या प्रशासन के द्वारा उस अपराध का दण्ड प्रदान कर दिया गया या व्यक्ति ने उस पाप का प्रायश्चित्त कर लिया तो उस निषिद्ध कर्म के अनुष्ठान से व्यक्ति को नरक की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु सामान्यतया वह कर्म नरक की प्राप्ति का साधन तो है ही। इसी प्रकार से चौर कर्म, अनाचार, दुराचार आदि कर्म भी नरक के साधन होते हैं। इन दोनों का अनुष्ठान नहीं करना है। इसके अतिरिक्त प्रायश्चित्त तथा उपासना का अनुष्ठान करना है।

प्रायश्चित्त पाप के क्षय का साधन बनते हैं जैसे चान्द्रायण आदि व्रत। अपने पापों के क्षय के लिए विभिन्न प्रकार के चान्द्रायण आदि व्रतों को करने का विधान किया गया है। उसमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध चान्द्रायण व्रत है जिसमें चन्द्रमा की कला के वृद्धि

के क्रम से अपने भोजन के ग्रासों में वृद्धि तथा चन्द्रमा की कला के क्षय के क्रम से अपने भोजन के ग्रासों में क्षय किया जाता है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक ग्रास लेते हुए तदुपरान्त द्वितीया को दो ग्रास, तृतीया को तीन ग्रास इस क्रम से ग्रासों को बढ़ाते हुए पूर्णमासी को पन्द्रह ग्रास भोजन के रूप में ग्रहण किया जाता है। फिर कृ ष्ण पक्ष की प्रतिपदा से भोजन के ग्रासों को कम करते हुए पुनः अमावास्या को जिस दिन चन्द्रमा दिखायी ही नहीं देता है, बिलकुल ही भोजन नहीं लेते। इस प्रकार से चान्द्रायण एक कठिन व्रत के रूप में मान्य है। यह एक विशिष्ट प्रकार का प्रायश्चित्त है जिसके आचरण का विधान विशिष्ट पापों के शोधन के लिए किया गया है। इसी प्रकार से अन्य भी कई एक प्रायश्चित्त हैं जिनके द्वारा अपने पापों का शोधन किया जाता है। सगुण ब्रह्म को विषय करनेवाले मानस व्यापार के रूप में शाण्डिल्यविद्या आदि उपासनाएं निर्दिष्ट हैं। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार तत्त्व केवल ब्रह्म ही है परन्तु वह ब्रह्म तत्त्व निर्गुण है। उपासना निर्गुण ब्रह्म की भी की जा सकती है और सगुण ब्रह्म की भी। परन्तु उस निर्गुण तत्त्व ब्रह्म की उपासना केवल निदिध्यासन के रूप में की जा सकती है। निदिध्यासन ब्रह्मज्ञान में साक्षात् ही उपयोगी होता है। यहाँ पर अन्तःकरण को निर्मल बनाने के लिए की जानेवाली उपासना की बात की जा रही है। ऐसी उपासना केवल सगुण ब्रह्म की ही की जा सकती है निर्गुण ब्रह्म की नहीं। सगुण ब्रह्म की उपासना तथा अन्य भी उपासनाएँ वेदान्तविद्या की अधिकारिता प्राप्त कराने के लिए आवश्यक चित्तशुद्धि के सम्पादन में उपयुक्त होती हैं। उपासनाएँ सचमुच में मानसक्रियारूप हैं ज्ञानरूप नहीं। सगुण ब्रह्म शिव, विष्णु आदि का मानस ध्यान आदि ही उपासनाएँ हैं।

काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का परिवर्जन नवीन मलों का संचय नहीं होने देता। काम्य कर्मों का अनुष्ठान भी रागों की अभिवृद्धि में कारण बनता है और निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान तो पाप के संचय में कारण बनता है। वेदों में जिन कर्मों को करना निषिद्ध है उन कर्मों के अनुष्ठान पाप का कारण बनता है। पाप हमारे अन्तःकरण के मल ही हैं, जिनके कारण हमको पुनः उन कर्मों का फल भोगने के लिए जन्म लेना पड़ता है।

कर्मों का प्रयोजन : एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकार्ग्यं 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' (बृ. उ. 4/4/22), इत्यादि श्रुतेः 'तपसा कल्मषं हन्ति' '(मनु. 12/104), इत्यादिस्मृतेश्च। नित्यनैमित्तिकयोः उपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः' (बृ. उ. 15/16), इत्यादिश्रुतेः।।

व्याख्या : इन नित्य आदि कर्मों का परम प्रयोजन बुद्धि की शुद्धि है। उपासनाओं का परम प्रयोजन चित्त की एकाग्रता है क्योंकि श्रुति बताती है कि उस इस आत्मा को ब्राह्मण यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं, इसी प्रकार से स्मृति भी है कि तपस्या से अपने कल्मष को नष्ट करता है। नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का तथा उपासना का अवान्तर फल पितृलोक, सत्यलोक आदि की प्राप्ति है क्योंकि श्रुति कहती है कि कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है तथा विद्या से देवलोक।

विशेष : विभिन्न प्रकार के कर्मों के विषय में बताया गया। परन्तु उन कर्मों का प्रयोजन क्या है? किस प्रकार से कर्मों का चित्तशुद्धि में विनियोग हो सकता है? यह बताया जाना है। ऊपर यह बताया गया है कि साधनचतुष्टय से सम्पन्न नितान्त निर्मल अन्तःकरण वाला प्रमाता ही अधिकारी है। अन्तःकरण का अर्थ बुद्धि से ही है। बुद्धि का निर्मलीकरण नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से होता है क्योंकि यदि हम

किसी राग या द्वेष से जब किसी कर्म का अनुष्ठान करते हैं तो बुद्धि निर्मल नहीं रहती। नित्य कर्म तथा नैमित्तिक कर्म किसी भी प्रकार की फल की कामना से नहीं किये जाते हैं, उसको करने में कोई राग या द्वेष नहीं होता। ये नितान्त कर्तव्यबुद्धि से किये जाते हैं। इस कारण इनके करने से बुद्धि का निर्मलीकरण होता है। सगुण ब्रह्म शिव, विष्णु आदि की उपासनाएं भी चित्त की एकाग्रता में उपयोगी होती हैं। इस कारण आत्मज्ञान सम्भव हो पाता है। नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का किस प्रकार से विविदिषा में यानी आत्मा को जानने की इच्छा में ही उपयोग होता है। आशय यह है कि जब तक बुद्धि निर्मल नहीं होती तब तक आत्मा को जानने की इच्छा भी नहीं होती है। तब तक व्यक्ति सामान्य जन की तरह व्यवहार करता रहता है। इसी प्रकार से तपस्या के द्वारा भी चित्त का कल्मष समाप्त होता है। इसके अतिरिक्त नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों के आचरण का तथा उपासनाओं का अवान्तर फल भी होता है क्योंकि यह सिद्धान्त है कि कोई भी किया गया कर्म निष्फल नहीं जाता। नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों के आचरण का वह अवान्तर फल है पितृलोक, सत्यलोक आदि की प्राप्ति। इसी प्रकार से उपासनाओं का अवान्तर फल होता है। इसमें श्रुतिवाक्यों का प्रामाण्य भी उपलब्ध है।

साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि।

व्याख्या : नित्यानित्यवस्तुविवेक, ऐहिक तथा आमुष्मिक फलभोग से वैराग्य, शमदमादिषट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व ये चार साधनचतुष्टय कहे जाते हैं।

विशेष : सदानन्द योगीन्द्र के शब्दों में इन चार साधनों से सम्पन्न होने की भी एक प्रक्रिया है जिसका अनुसरण करते हुए ही व्यक्ति इन चार साधनों से सम्पन्न हो सकता है। यानी कि जब तक व्यक्ति नित्य तथा अनित्य वस्तु में विवेक कर पाने में सक्षम नहीं है, ऐहिक तथा आमुष्मिक फलों के भोग के प्रति वैराग्य से युक्त नहीं है, इस संसार के अथवा स्वर्ग के फलों के भोग के प्रति आकर्षण शेष है, शमादि छह गुणों से व्यक्ति सम्पन्न नहीं है और इन सबके साथ मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा) नहीं है, व्यक्ति वेदान्त विद्या का अधिकारी नहीं है। इन सबसे सम्पन्न होने पर ही व्यक्ति वेदान्त विद्या का अधिकारी हो पाता है। इन चारों साधनों की सम्पत्ति की भी एक प्रक्रिया है तथा इन साधनों की सम्पत्ति में भी एक क्रम है। जब तक नित्यानित्यवस्तुविवेक नहीं होता तब तक ऐहिक तथा आमुष्मिक फलों के भोग से वैराग्य नहीं हो पाता। तथा जब तक ऐहिक तथा आमुष्मिक फलों के भोग से वैराग्य नहीं होता तब तक शमादि छह गुणों की सम्पत्ति नहीं पाती। इसी प्रकार जब तक शमादि छह गुणों की सम्पत्ति नहीं होती तब तक मुमुक्षा सम्भव नहीं होती। उस साधनचतुष्टय से सम्पन्न प्रमाता का अन्तःकरण निर्मल होना भी अत्यन्त आवश्यक शर्त है। अन्तःकरण को निर्मल बनाने की भी एक प्रक्रिया है जिसका अनुपालन करते हुए व्यक्ति इन साधनों से सम्पन्न हो जाता है तथा उसका मन भी निर्मल हो जाता है। इसके लिए नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान, उपासनाएं, काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का परिवर्जन, प्रायश्चित्त आदि का अनुष्ठान ऊपर बताया गया है।

नित्यानित्यवस्तुविवेक : नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्।

व्याख्या : नित्य व अनित्य वस्तु के विवेक यह है कि ब्रह्म ही एकमात्र नित्य वस्तु है, उससे भिन्न सब कुछ अनित्य है, यह विवेचन करना यानी इस निष्कर्ष पर पहुँचना।

विशेष : अद्वैतबुद्धि तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक नहीं किया जाता। जब तक यह ध्यान में नहीं आता है कि ब्रह्म ही एकमात्र नित्य वस्तु है, उससे अन्य सब कुछ अनित्य है, तब तक अद्वैत की वासना नहीं बन सकती। अद्वैत की वासना बनने के लिए यह प्रारम्भिक रूप से आवश्यक है कि जो भेद है, अनेकता है, द्वैत है उसका तिरस्कार किया जा सके। उसका तिरस्कार करने का तरीका यह विवेक है कि केवल ब्रह्म ही नित्य वस्तु है तथा उससे भिन्न सब कुछ अनित्य है। वस्तुओं के प्रति राग का कारण उनकी स्थायिता का अवबोध है, उनकी नित्यता का अवबोध उनके प्रति हमारे राग का कारण है। हमारा राग और द्वेष तभी दूर हो सकता है जब हमको यह नित्य तथा अनित्य का सुस्पष्ट विभेद हो सके। भोग के साधनों के प्रति हमारा राग अधिक होता है क्योंकि भोग हमारे लिए आसक्ति का कारण बनता है। यदि भोगों की अनित्यता का बोध हो जाये तथा आत्मा की नित्यता का बोध हो जाये, तो भोगों के प्रति हमारा राग नहीं रहेगा। इस कारण नित्यानित्यवस्तुविवेक चित्त के निर्मलीकरण के लिए भी उपयोगी है तथा आत्मज्ञान के लिए भी क्योंकि यही वास्तविकता है।

इहामुत्रार्थफलभोगविराग यानी वैराग्य—ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयानित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादि— विषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः इहामुत्रार्थफलभोगविरागः।

व्याख्या : ऐहिक माला, चन्दन, स्त्री आदि विषय भोगों के कर्म से जन्य होने के कारण उनकी अनित्यता होने के कारण, इसी प्रकार से स्वर्ग में प्राप्तव्य अमृत आदि विषयभोगों के अनित्य होने के कारण उनसे सर्वथा विरक्ति ही इहामुत्रार्थफलभोगविराग है।

विशेष : ऐहिक तथा आमुष्मिक ये दो प्रकार के भोगसाधन हैं। ऐहिक वे हैं जो इस संसार में ही प्राप्त होनेवाले हैं तथा आमुष्मिक भोग वे हैं जो मृत्यु के उपरान्त देवलोक, स्वर्ग आदि में प्राप्तव्य अमृत आदि के भोग हैं। ये दोनों ही वस्तुतः अनित्य हैं। इनकी अनित्यता का आधार है इन का जन्य होना। जन्य जो भी होता है वह अनित्य होता है। इस संसार के माला, चन्दन, कामिनी इत्यादि सुखों की अनित्यता का पता हमको सहज ही चल जाता है क्योंकि वे सभी हमारे कर्मों से जन्य होते हैं। जो जन्य है वह आखिर नित्य किस प्रकार से हो सकेगा। किसी भी वस्तु की जन्यता उस वस्तु की अनित्यता की पुष्टि है। जिस प्रकार इस संसार में प्राप्त होनेवाले सुख कर्म से जन्य होने के कारण अनित्य हैं, उसी प्रकार से स्वर्ग में प्राप्य अमृत आदि सुख भी कर्म से ही प्राप्त होते हैं, कर्म से जन्य होते हैं। इस कारण उनका भी अनित्यत्व ही निश्चित होता है। हम अनुमान कर सकते हैं कि स्वर्गादि सुख अनित्य है कर्म से जन्य होने के कारण, सांसारिक सुखों की तरह। इस अनुमान के द्वारा हम सुनिश्चित कर सकते हैं कि जिस प्रकार से सांसारिक सुख अनित्य होने के कारण त्याज्य हैं क्योंकि अनित्य होने के कारण एक न दिन उनका परित्याग अवश्यम्भावी है, परित्याग अवश्यम्भावी होने के कारण अनित्य सुख भी वस्तुतः दुःख में बदल जाता है। इसी प्रकार सांसारिक सुखों की अनित्यता की तरह स्वर्गादि सुखों की अनित्यता का बोध हो जाता है, अनित्य होने के कारण एक न दिन उस स्वर्गादि सुख का परित्याग भी अवश्यम्भावी होने के कारण अन्ततः वह भी दुःखकारी ही होता है। इस प्रकार से इन सभी प्रकार के फलों के भोग से विरक्ति ही द्वितीय साधन है। इस प्रकार से ब्रह्मातिरिक्त वस्तुमात्र की अनित्यता के अवबोध से ऐहिक तथा आमुष्मिक दोनों ही प्रकार के फलों के भोग से वैराग्य हो जाता है। इसी कारण सदानन्द योगीन्द्र ने

वेदान्तसार में इस द्वितीय साधनसम्पत्ति को विवेचित करते हुए बताया है कि – कर्मजन्य होने के कारण ऐहिक माला, चन्दन, कामिनी आदि विषय भोगों की अनित्यता की तरह आमुष्मिक अमृत आदि विषय भोगों के भी अनित्य होने के कारण उनसे नितान्त विरत हो जाना ही इहामुत्रार्थफलभोगविराग है। यह वैराग्य भी वस्तुतः राग का अभाव नहीं है क्योंकि अभाव का तो विधान ही नहीं किया जा सकता है। न्याय की परम्परा में चार प्रकार के अभाव स्वीकार किये जाते हैं प्रागभाव, प्रध्वंस, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव। प्रागभाव का तात्पर्य वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व उस वस्तु के अभाव से है। ध्वंस का तात्पर्य किसी वस्तु के अस्तित्व में रहने के बाद उस वस्तु के विनाश से है। अत्यन्ताभाव किसी वस्तु के सम्बन्ध का निषेध है। अन्योन्याभाव एक वस्तु में दूसरी वस्तु के तादात्म्य का निषेध है। परन्तु इन चारों में से कोई भी अभाव ऐसा नहीं है जिसका कि विधान किया जा सके। इन चारों में प्रागभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव नित्य होते हैं इस कारण इनमें से किसी का भी विधान नहीं किया जा सकता। जो पहले से ही है उसका न तो अनुष्ठान ही किया जा सकता है और न तो विधान ही। ध्वंस यद्यपि उत्पन्न होनेवाला अभाव है, इस कारण उसका अनुष्ठान किया जा सकता है और फलतः विधान भी सम्भव है। परन्तु किसी भी जन्य पदार्थ का विनाश किसी प्रयास के विना ही सिद्ध है। इस कारण राग का ध्वंस नित्यानित्यवस्तु के विवेक की अपेक्षा से नहीं हो सकता है। एक वस्तु के विषय में राग उत्पन्न होकर भी स्वयं ही दूसरे कारणों से विनष्ट हो जायेगा। फिर इसके लिए रागध्वंस का विधान करना आवश्यक नहीं है। इस कारण रागविरोधी चित्त की विशेष वृत्ति ही वैराग्य है। अन्तःकरण को इस प्रकार से तैयार कर लेना ही वैराग्य है कि उसमें राग उत्पन्न ही न हो। अन्तःकरण की यह तैयारी तभी बन पाती है जब नित्यानित्यवस्तुविवेक होता है। नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक जब तक नहीं होता तब तक रागविरोधिनी ऐसी अन्तःकरण की वृत्ति नहीं बन पाती।

शमादि षट्क सम्पत्ति : शमादयस्तु शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः

व्याख्या : शमादि हैं शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा।

विशेष : शमादि षट्क सम्पत्ति का तात्पर्य इन छहों की सम्पत्ति से है। इन छहों की सम्पत्ति को एक साथ तृतीय साधन के रूप में गिना गया है। यानी ये छहों मिलकर तृतीय साधन बनते हैं। इनमें से एक–एक की साधनता नहीं बनती है। केवल शम या दम या अन्य चारों में से कोई एक पर्याप्त नहीं हैं। बल्कि ये छहों मिलकर तृतीय साधन का कार्य करते हैं।

शम : शमस्तावत् श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः।

शम तो श्रवण आदि से भिन्न विषयों से मन का निग्रह है।

विशेष : हमारा मन स्वभाववश ही विभिन्न विषयों की ओर भागता रहता है। कभी एक विषय के प्रति तो कभी दूसरे विषय के प्रति लालायित होता रहता है। हमारी हर एक इन्द्रिय के विषय के प्रति चंचल मन बार बार दौड़ता रहता है। साधारणतया हमारा मन विभिन्न आकर्षक विषयों की ओर लालायित होकर भागता रहता है। तत्त्व साक्षात्कार के लिए यह आवश्यक है कि मन अन्य विषयों से विरत होकर केवल श्रवण में संलग्न हो। विभिन्न विषयों की ओर मन के चंचल होकर प्रवर्तमान होने पर अद्वैतबुद्धि, तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं हो पाता। जब अन्य विषयों से निवर्तित मन केवल श्रवण में

संलग्न रहता है तो वेदान्तार्थावबोध सम्भव हो पाता है। इस प्रकार से शम का तात्पर्य श्रवण आदि से भिन्न विषयों से मन के निग्रह से है।

दम : दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्।

व्याख्या : श्रवण आदि से भिन्न विषयों से बाह्य ज्ञानेन्द्रियों को निवृत्त करना ही दम है।

विशेष : जहाँ शम का तात्पर्य श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से मन के निग्रह से है, वहीं दम का तात्पर्य श्रवण आदि से भिन्न विषयों से बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के निवर्तन से है। यहाँ पर भी शम तथा दम के निरूपण में एक क्रम विवक्षित है। बाह्य इन्द्रियाँ भी मन के सहयोग के विना किसी भी विषय का ज्ञान कराने में सक्षम नहीं होती हैं। इसी कारण मन तथा इन्द्रिय के संयोग को भी ज्ञान के लिए एक आवश्यक शर्त के रूप में नैयायिकों ने स्वीकृति दी है। इस कारण जब तक मन का निग्रह नहीं किया गया है तब तक बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करना एक प्रकार का मिथ्याचार ही होगा। इसी कारण मन के निग्रह के उपरान्त विषयों से बाह्य इन्द्रियों के निवर्तन की बात सदानन्द योगीन्द्र करते हैं।

उपरति निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिरथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः।

व्याख्या : निवर्तित हो जाने के बाद इन इन्द्रियों का श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से उपरमण अथवा विहित कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग कर देना उपरति है।

विशेष : उपरति शब्द का अर्थ सदानन्द योगीन्द्र दो प्रकार से करते हैं। उपरति का प्राथमिक अर्थ सदानन्द योगीन्द्र ने किया कि बाह्य इन्द्रियों को निवर्तित कर लेने के उपरान्त श्रवणादि विषयों से अतिरिक्त विषयों से इन इन्द्रियों का उपरमण ही उपरति है। दूसरा अर्थ उन्होंने किया अथवा विहित कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग कर देना ही उपरति है। इसमें प्रथम अर्थ को लिया जाये तो शम के द्वारा मन का श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से निग्रह तो कर ही लिया गया है। मन के निगृहीत हो जाने के उपरान्त दूसरे स्तर पर बाह्य इन्द्रियों को श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से निवृत्त कर लिया गया है। कभी भी विषय के प्रति संसर्ग या तो मनःसापेक्ष इन्द्रिय के द्वारा हो सकता है और या तो मनोनिरपेक्ष इन्द्रिय के द्वारा सम्भव है। दोनों ही सम्भावनाएँ शेष नहीं रहीं क्योंकि मन भी श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से निगृहीत किया जा चुका है तथा बाह्य इन्द्रियों को भी श्रवणादि से अतिरिक्त विषयों से निवर्तित किया जा चुका है। फिर ये किस प्रकार का उपरमण शेष है जिसको सदानन्द योगीन्द्र उपरति शब्द के द्वारा कहना चाहते हैं? इसी आशंका को दृष्टिगत रखते हुए उपरति का शब्द का सदानन्द योगीन्द्र ने दूसरा अर्थ बताया कि विहित कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग ही उपरति है। वेदान्त विद्या संन्यासियों के द्वारा प्राप्त की जानेवाली विद्या है। संन्यासियों का ही इस विद्या में अधिकार है क्योंकि वे समस्त रागादि से रहित होकर मोक्षमात्र की कामना रखते हैं। संन्यासी संन्यास लेने के क्रम में विहित कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग करते हैं। विहित कर्मों का परित्याग विधिपूर्वक भी किया जा सकता है तथा अविधिपूर्वक भी। कोई व्यक्ति आलस्य आदि के कारण विहित कर्म का अनुपालन नहीं करे, कर्म का परित्याग कर दे, ऐसा भी हो सकता है। परन्तु अविधिपूर्वक कर्म का परित्याग करना निषिद्ध है। अविधिपूर्वक कर्म का परित्याग करनेवाला पाप का भागी होता है। विधिपूर्वक कर्म का परित्याग करनेवाला ही उपरति से सम्पन्न कहा जायेगा।

तितिक्षा : तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता।

व्याख्या : शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों की सहिष्णुता तितिक्षा है।

विशेष : सामान्यतया हम द्वन्द्वों के प्रति सहिष्णु नहीं होते हैं। सुख मिला तो प्रसन्न और दुःख मिला तो परेशान। दोनों ही हमको दोलायमान कर देते हैं। इसी प्रकार से ठंडी और गर्मी से भी हम परेशान हो जाते हैं। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए इन द्वन्द्वों के प्रति सहिष्णु होना आवश्यक शर्त है। जब तक व्यक्ति इनके प्रति सहिष्णु नहीं होता, अद्वैतबुद्धि सम्भव नहीं होती। इस कारण इन द्वन्द्वों के प्रति सहिष्णुता भी अत्यन्त आवश्यक है। तितिक्षा में इन समस्त द्वन्द्वों के प्रति सहिष्णु बनना आवश्यक होता है।

समाधान : निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्।

व्याख्या : निगृहीत हो जाने पर मन की श्रवणादि तथा श्रवणादि के प्रति उपकारी विषयों में जो समाधि है, एकाग्रता है, वही समाधान है।

विशेष : आत्मज्ञान मन के द्वारा ही सम्भव हो पाता है। बाह्य इन्द्रियों की श्रवणादि से भिन्न विषयों से निवृत्ति हो जाने तथा मन के निगृहीत हो जाने के उपरान्त अन्य कोई विक्षेपकारी बाह्य विषय शेष नहीं बचते हैं। इस कारण मन श्रवणादि में एकाग्र हो जाता है। समाहित मन ही आत्म साक्षात्कार का साधन बनता है। इस कारण ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव हो पाता है।

श्रद्धा : गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा।

व्याख्या : गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेदान्तवाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है।

विशेष : हमारे व्यावहारिक अनुभव द्वैत पर ही आधारित होते हैं, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी द्वैत को ही पुष्ट करते हैं। यहाँ तक कि वे सभी द्वैत पर ही आश्रित होते हैं। वेदान्त वाक्यों के द्वारा उसके विपरीत अद्वैत का प्रतिपादन किया जाता है। इस कारण गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेदान्त वाक्यों के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ पर विश्वास करना सहसा कठिन हो जाता है। परन्तु उन पर विश्वास करके साधना करने पर ही अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार व अवबोध सम्भव हो पाता है अन्यथा नहीं। इस कारण यह भी शमादि षट्कसम्पत्ति में एक आवश्यक तथा अनिवार्य घटक है।

मुमुक्षुत्व : मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा।

व्याख्या : मोक्ष की इच्छा ही मुमुक्षुत्व है।

विशेष : चतुर्थ साधन है मुमुक्षुत्व। मुक्त होने की इच्छा होना भी अत्यन्त अनिवार्य शर्त है। यदि हमारी इच्छा मुक्त होने की न हो तो हम कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। इन चारों ही साधनों से सम्पन्न प्रमाता ही वेदान्त विद्या का अधिकारी है क्योंकि उसी व्यक्ति को वेदान्त वाक्यों का श्रवण होने पर तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव है। जिसमें इस प्रकार की साधनचतुष्टयसम्पत्ति नहीं है उस व्यक्ति को वेदान्त वाक्यों का श्रवण कर लेने के उपरान्त भी अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार नहीं सम्भव हो पाता।

एवम्भूतः प्रमाताधिकारी 'शान्तो दान्तः' (बृ. उ. 4/4/23), इत्यादिश्रुतेः। उक्तञ्च कहा गया है :

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च
प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा
प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे। (उपदेशसाहस्री 324/16/72)

व्याख्या : इस प्रकार का प्रमाता ही अधिकारी होता है क्योंकि शान्तो दान्तः इत्यादि श्रुति यही कहती है। कहा भी गया है कि प्रशान्तचित्त, जितेन्द्रिय, प्रहीणदोष, यथोक्तकारी, गुणान्वित तथा मुमुक्षु को ही यह ज्ञान सर्वदा देय है।

विशेष : इस साधनचतुष्टय से सम्पन्न जिस प्रमाता का हृदय नितान्त निर्मल हो चुका है वही इस वेदान्तशास्त्र तथा वेदान्तसार का अधिकारी है। ग्रन्थकार ने इसमें उपदेशसाहस्री ग्रन्थ से समर्थन भी प्रस्तुत किया। वस्तुतः तो जिस प्रमाता का हृदय नितान्त निर्मल हो चुका होगा वही साधनचतुष्टय से सम्पन्न हो सकता है। उपदेशसाहस्री के इस श्लोक में उन्हीं गुणों तथा योग्यताओं की चर्चा की गयी है, जिनको ग्रन्थकार ने अभी बताया है।

विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्।

व्याख्या : वेदान्तसार का विषय है जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य क्योंकि उसी में समस्त वेदान्तों का तात्पर्य है।

विशेष : विषय का तात्पर्य ग्रन्थ या शास्त्र के द्वारा प्रतिपाद्य विषय से है। वेदान्त का विषय जीव तथा ब्रह्म की एकता है। वह ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है, उपनिषत् प्रमाणों के द्वारा वही शुद्ध चैतन्य ब्रह्म प्रमेय है। इस प्रकार से वेदान्तसार तथा समस्त वेदान्त शास्त्रों का तात्पर्य जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने में है। इसी बात को सदानन्द योगीन्द्र वेदान्तसार में यहाँ पर सुस्पष्टता से बताते हैं।

परन्तु इस एकता का आशय क्या है? जब यह कहा जाता है कि जीव ही ब्रह्म है, इन दोनों का ऐक्य है तो इन कथनों का अभिप्राय क्या है? द्वितीयतः जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने में वेदान्त सफल कैसे हो सकेंगे?

यदि जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य आशय घट को नील बताते समय नील तथा घट के अभेद को बताने की तरह हो तो ऐसी स्थिति में सचमुच में ब्रह्म तथा जीव का अभेद तो बताया ही नहीं गया। यह स्थापित ही नहीं हो सका कि जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य है। इसका कारण यह है कि नील और घट में अभेद प्रतिपादित कर दिये जाने पर भी वस्तुतः तो नील तथा घट का भेद शेष ही रहा। नील तथा घट दोनों एक तो नहीं हो जाते। इनमें भेद हमेशा ही अवशिष्ट रह जाता है। इस कारण यहाँ पर ऐक्य प्रतिपादन का तात्पर्य जीव तथा ब्रह्म का अभेद बताने में नहीं है। इसी प्रकार से दुग्ध तथा जल का ऐक्य बताने के समान भी जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य को नहीं बताया जा रहा है। जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य बताने का उद्देश्य वस्तुतः यह है कि किसी भी प्रकार का कोई भी भेद नहीं है। सजातीय, विजातीय तथा स्वगत तीनों ही प्रकार के भेद का आत्यन्तिक निषेध करने में ग्रन्थकार का तात्पर्य है। सजातीय, विजातीय तथा स्वगत ये तीन प्रकार के भेद स्वीकार्य हो सकते हैं। जब जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य बताया जा रहा है तो इसका तात्पर्य इससे है कि वस्तुतः जीव तथा ब्रह्म में इन तीनों में से कोई भी भेद नहीं है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती जीव तथा ब्रह्म में स्वरूपतः किसी भी तरह का कोई भेद नहीं स्वीकार करते हैं।

परन्तु जीव तथा ब्रह्म में स्वरूपतः भेद न मानने में कुछ विशिष्ट समस्याएँ अन्तर्निविष्ट हैं। जिस प्रकार से जीव तथा ब्रह्म में कोई वास्तविक भेद अद्वैत वेदान्ती स्वीकार नहीं करते हैं, उसी प्रकार से ईश्वर तथा ब्रह्म में भी कोई वास्तविक भेद अद्वैत वेदान्ती स्वीकार नहीं कर सकते। इसका निहितार्थ यह हुआ कि जीव, ईश्वर तथा ब्रह्म में कोई भी भेद नहीं है। परन्तु यह कैसे सम्भव है? जीव तो अल्पज्ञत्वादि से विशिष्ट है परन्तु

ईश्वर सर्वज्ञत्वादि से विशिष्ट है। अल्पज्ञत्वादि से विशिष्ट जीव तथा सर्वज्ञत्वादि से विशिष्ट ईश्वर के मध्य कोई अन्तर या भेद न हो यह कैसे युक्तिसंगत माना जा सकता है? दोनों में ऐक्य तो किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं दिखता। इस बात को अद्वैत वेदान्ती इस प्रकार से प्रस्तावित करते हैं कि जीव तथा ब्रह्म में ऐक्य प्रतिपादित करने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि ईश्वर तथा ब्रह्म के मध्य भेद को तिरोहित करना है। बल्कि इसका तात्पर्य यह है कि जीव अल्पज्ञत्वादि से विशिष्ट चैतन्य है वहीं ईश्वर सर्वज्ञत्वादि से विशिष्ट चैतन्य है। इन दोनों में वस्तुतः कोई भेद है ही नहीं क्योंकि विशेष्याँश में कोई भी भेद नहीं है। दोनों ही चैतन्य स्वरूप हैं। इनमें जो भेद है वह विशेषण अंश में है क्योंकि जीव अल्पज्ञत्वादि से विशिष्ट चैतन्य है तथा ईश्वर सर्वज्ञत्वादि से विशिष्ट चैतन्य है। इस भेद का निवारण बहुत आसानी से किया जा सकता है यदि विशेषण अंश का परित्याग कर दिया जाये। जीव तथा ईश्वर दोनों में से यदि विशेषण अंश अल्पज्ञत्व तथा सर्वज्ञत्वादि अंश का परित्याग कर दिया जाये तो विशेष्य अंश शुद्ध चैतन्य का ऐक्य होने में कोई भी असंगति नहीं है। उसी की एकता प्रतिपादित करने में ही वेदान्तों का तात्पर्य है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य ही इस वेदान्तशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। चैतन्य के शुद्धत्व का तात्पर्य सर्वधर्मातीतत्व से है यानी चैतन्य शुद्ध है इसका अर्थ है कि चैतन्य सभी धर्मों से अतीत है, सभी धर्मों से परे है। वस्तुतः तो चैतन्य समस्त धर्मों से परे है, समस्त धर्मों से रहित है, समस्त धर्म चैतन्य पर ही आरोपित हैं। इसी कारण वेदान्तों में बार–बार कहा जाता है कि शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक है। यही शुद्ध चैतन्य वेदान्तों का तथा वेदान्तसार का प्रमेय है यानी प्रतिपाद्य है।

सम्बन्धस्तु तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः।

व्याख्या : जीव तथा ब्रह्म की एकता रूपी प्रमेय तथा उसके प्रतिपादक उपनिषत् प्रमाण का बोध्यबोधकभाव ही सम्बन्ध है।

विशेष : अभी पिछले पृष्ठों में आपने जाना कि वेदान्तसार तथा वेदान्तों का विषय शुद्ध चैतन्य प्रमेय है। अभी यह बताया जा रहा है कि उस प्रमेय तथा प्रस्तुत ग्रन्थ का आपसी सम्बन्ध क्या है? वेदान्तसार के लेखक सदानन्द योगीन्द्र बताते हैं कि जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य जो कि प्रमेय है उसके तथा उस ऐक्य के प्रतिपादक उपनिषत् प्रमाण के मध्य बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है – इसका तात्पर्य यह है कि जीव–ब्रह्मैक्य उपनिषदों का प्रमेय है तथा उसमें प्रमाण हैं उपनिषत्। जीव–ब्रह्मैक्य तथा उपनिषदों के मध्य बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है। जीव–ब्रह्मैक्य बोध्य है तथा उपनिषद् जीव–ब्रह्मैक्य के बोधक हैं। जीव–ब्रह्मैक्य रूपी प्रमेय को बोधित करने के कारण ही उपनिषद् प्रमाण बनते हैं।

परन्तु इसमें एक समस्या उठती है। अभी ऊपर यह बताया गया कि शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक है वहीं दूसरी ओर यह भी बता रहे हैं कि शुद्ध चैतन्य प्रमेय है तथा शुद्ध चैतन्य रूपी प्रमेय उपनिषदों के द्वारा बोध्य है, इस कारण उपनिषद् शुद्ध चैतन्य में प्रमाण हैं। परन्तु यदि शुद्ध चैतन्य प्रमेय है तो उसमें कम से कम एक धर्म प्रमेयत्व को तो रहना ही चाहिए। समस्या यह है कि शुद्ध चैतन्य में प्रमेयत्व धर्म भी किस प्रकार से रह सकता है? क्योंकि यह स्थापित किया गया है कि शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक है और प्रमेयत्व भी एक धर्म है। इस परिस्थिति में प्राथमिक दृष्टि से ये दोनों बातें सही नहीं हो सकती हैं कि शुद्ध चैतन्य एक ओर तो निर्धर्मक है और दूसरी ओर प्रमेयत्व नामक धर्म उसमें विद्यमान है। वस्तुतः हमारी ज्ञान की प्रक्रिया ही कुछ ऐसी है कि जिसमें

ज्ञान का विषय धर्म तथा धर्मी के रूप में हमारी बुद्धि में प्रतिभासित होता है। इस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया ही हर जगह पर विभेद को उत्पन्न कर देती है, हर जगह द्वैत आ जाया करता है। इसी कारण समस्त प्रमाण–प्रमेय व्यापार भेद को ही द्वैत को ही पुरस्कृत करते हुए ही सम्भव हो पाते हैं। इसी कारण जब अद्वैतवेदान्ती जब व्यवहार के मिथ्यात्व का उद्घोष करता है तो उसके उद्घोष में यह बात अन्तर्निहित होती है कि समस्त व्यवहार चाहे वह वाचिक अभिलपनात्मक व्यवहार हो या ज्ञानात्मक व्यवहार हर किसी का मिथ्या होना अपरिहार्य तथा अनिवार्य है। शुद्ध चैतन्य तो वस्तुतः हर किसी व्यवहार या विभाग के परे है। न तो वह प्रमाण हो सकता है और न ही वह प्रमेय हो सकता है। न तो वह धर्म हो सकता है और न ही धर्मों के न रहने की स्थिति में धर्मी ही हो सकता है। ये सभी सापेक्षिक पद हैं। प्रमाण प्रमेय की अपेक्षा करता है और प्रमेय प्रमाण की। धर्म धर्मी की अपेक्षा करता है और धर्मी धर्म की। शुद्ध चैतन्य इन समस्त विभागों से परे है। यदि शुद्ध चैतन्य को प्रमेय माना जाये तो उस शुद्ध चैतन्य रूपी प्रमेय को जानने के लिए किसी न किसी प्रमाण की अपेक्षा आवश्यक रूप से होगी। फिर तो कम से कम एक भेद अवशिष्ट रह ही जायेगा प्रमेय तथा प्रमाण का भेद। यदि वह भेद शेष रहा तो इसका निहितार्थ यह हुआ कि शुद्ध चैतन्य प्रमेय नहीं हो पाया। यदि यह भेद विलुप्त हो गया तो इसका निहितार्थ यह है कि शुद्ध चैतन्य न तो प्रमाण हुआ और न ही प्रमेय। अद्वैतवेदान्त की वास्तविक स्थिति यही है। सचमुच में शुद्ध चैतन्य न तो प्रमाण है और न ही प्रमेय। जब शुद्ध चैतन्य को प्रमेय बताया जाता है तो उसका तात्पर्य शुद्ध चैतन्य को उस प्रकार से प्रमेय बताने में नहीं है जिस प्रकार से अन्य वस्तुएँ प्रमेय बनती हैं। इसी कारण उपनिषदों में शुद्ध चैतन्य की इन्द्रिय, मन आदि से अगोचरता का प्रतिपादन करनेवाले बहुत सारे वचन प्राप्त होते हैं। श्रुति कहती है 'ज्ञातारं वाऽरे केन विजानीयात्?' अरे उस ज्ञाता को किससे जानें? इसी प्रकार का अन्य श्रुतियाँ भी प्राप्त होती हैं– यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, जहाँ से उस शुद्ध चैतन्य को न प्राप्त कर वाणी मन के साथ वापस आ जाती है। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत सारे उपनिषदों के वाक्य प्राप्त होते हैं जहाँ पर शुद्ध चैतन्य की इन्द्रियादि के द्वारा अगोचरता बतायी गयी है। इस परिस्थिति में किस प्रकार से शुद्ध चैतन्य के साथ उपनिषदों का बोध्य–बोधकभाव बन सकता है? यदि वेदान्तों (उपनिषदों) के द्वारा ब्रह्म बोधित किया जा रहा है तो उपर्युक्त श्रुतिवाक्यों के साथ प्रतिपादित अर्थ के साथ विरोध होगा। यदि वेदान्तों (उपनिषदों) के द्वारा ब्रह्म बोधित नहीं किया जा रहा है तो उपनिषदों के द्वारा शुद्ध चैतन्य का प्रतिपादन नहीं किया गया, फिर वे उपनिषद् प्रमेय शुद्ध चैतन्य में प्रमाण किस प्रकार से हो सकेंगे?

इसका समाधान यह दिया जाता है कि वस्तुतः ब्रह्म स्वयंप्रकाश है। जो स्वयंप्रकाश है उसका प्रतिपादन करने के लिए वस्तुतः किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं हो सकती है। इसमें यह उदाहरण है कि जागतिक व्यवहार में आनेवाली घट–पटादि वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिए सूर्यप्रकाश की आवश्यकता होती है परन्तु सूर्य को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य अन्य प्रकाशक की आवश्यकता नहीं होती। सूर्य स्वयं ही प्रकाशमान है। ठीक उसी प्रकार से ब्रह्म भी स्वयंप्रकाश है, उसको प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाशक की आवश्यकता या अपेक्षा नहीं हो सकती। प्रकाशन करना ही वस्तुतः किसी भी प्रमाण का कार्य होता है। इस कारण वस्तुतः ब्रह्म का प्रकाशन करने के लिए किसी भी प्रमाण की आवश्यकता या अपेक्षा है नहीं। परन्तु ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले प्रमाण व्यर्थ या निरर्थक नहीं हैं। प्रमाणों की सार्थकता सामान्यतया अज्ञात अर्थ का प्रकाशन करने के कारण होती है। ब्रह्म स्वयंप्रकाश होने के कारण

नित्यवेद्य या नित्यप्राप्त है, इस कारण अज्ञात नहीं है तो फिर उसका प्रकाशन करने के लिए वेदान्तों का कोई उपयोग प्रतीत तो नहीं होता है। तथापि उपनिषदों का ब्रह्मबोधकत्व या शुद्ध चैतन्य बोधकत्व सम्भव होता है क्योंकि उन वेदान्तों (उपनिषदों) के द्वारा उन भेदों का अपसारण कर दिया जा रहा है जो शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का प्रकाशन होने में आवरण का कार्य कर रहे थे। इसी कारण आचार्य शंकर शास्त्रों का प्रयोजन बताते हैं कि अविद्याकल्पितभेदनिवृत्ति–परत्वाच्छास्त्रस्य, शास्त्र का कार्य केवल अविद्या से कल्पित भेद की निवृत्ति करा देना है। अविद्या से कल्पित भेद की निवृत्ति करा देने भर से ही शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो जाता है, शुद्ध चैतन्य बोधित हो जाता है। तथा इसी कारण शुद्ध चैतन्य का बोधक वेदान्त बन जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्र का कार्य सचमुच में किसी अज्ञात का प्रकाशन करना नहीं है जब शास्त्र के द्वारा शुद्ध चैतन्य का बोधन किया जा रहा है। बल्कि शास्त्र के द्वारा केवल अविद्या से कल्पित भेद की निवृत्ति की जा रही है जो कि शुद्ध चैतन्य के स्वरूप का आवरण कर रही थी। इस बात को समझाने के लिए वेदान्ती एक उदाहरण लेते हैं। आकाश में बादल के व्याप्त रहने पर प्रकाशमान भी सूर्य दिखायी नहीं देता। यद्यपि बादल उसी सूर्य के प्रकाशमान होने के कारण ही प्रकाशित होता है, इस कारण सूर्य पहले से ही प्रकाशमान है तथापि बादल के द्वारा द्रष्टा की दृष्टि का अवरोध हो जाने के कारण द्रष्टा उस सूर्य को देख नहीं पाता। परन्तु उस बादल के टुकड़े के दूर हो जाते ही सूर्य प्रकाशमान होता हुआ दिखने लगता है। ठीक उसी प्रकार नित्य, शुद्ध, स्वयंप्रकाश आत्मा, शुद्ध चैतन्य चैतन्य होने के कारण, स्वयंप्रकाश होने के कारण प्रकाशमान तो पहले से ही था। परन्तु अज्ञान के कारण, अविद्या के कारण नित्यज्ञात आत्मा, शुद्ध चैतन्य अज्ञातवत् था। परन्तु ज्यों ही अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, शुद्ध चैतन्य ज्ञात हो जाता है। वेदान्त उस प्रकार से शुद्ध चैतन्य का प्रतिपादन नहीं करते हैं, बोधन नहीं करते हैं जैसे व्यवहारविषय घट, पट आदि वस्तुओं का बोधन प्रमाणों के द्वारा किया जाता है। अपितु अविद्या से कल्पित भेद की केवल निवृत्ति करा देते हैं। अविद्या से कल्पित भेद की निवृत्ति करा देने मात्र से ही वेदान्तों (उपनिषदों) का प्रामाण्य व्यवस्थित हो जाता है। इसी बात को एक अन्य उदाहरण तथा वेदान्दी ज्ञानप्रक्रिया के द्वारा भी समझाया जाता है––प्रत्यक्ष के द्वारा घट आदि के ज्ञान की प्रक्रिया में बुद्धि तथा बुद्धिस्थ चित्प्रतिबिम्ब दोनों के द्वारा घट आदि विषय का व्यापन किया जाता है, इस कारण घट आदि में वृत्तिव्याप्यता भी है तथा फलव्याप्यता भी है। वृत्तिव्याप्यता तथा फलव्याप्यता दोनों के आने पर ही वस्तु ज्ञात होती है। जब घटज्ञान होता है तो घटाकाराकारित वृत्ति बनती है। उस वृत्ति से घट व्याप्य होता है तथा वृत्तिजन्य फल से भी घट व्याप्य होता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य कमरे में रखे हुए घट को प्रकाशित करता है परन्तु दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य स्वयं सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता। उसी प्रकार बिम्बस्थानीय चैतन्य का अन्तःकरण में बननेवाला जो प्रतिबिम्ब है उस प्रतिबिम्ब के द्वारा घटादि विषयों का प्रकाशन तो सम्भव है परन्तु उस बिम्बस्थानीय चैतन्य के अन्तःकरण में बननेवाले प्रतिबिम्ब से बिम्बस्थानीय चैतन्य का प्रकाशन नहीं किया जा सकता। इस विषय पर आगे के भाग में अहं ब्रह्मास्मि इस अनुभव के व्याख्यान के अवसर पर विस्तार से विवेचन किया जायेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रमेय जीवब्रह्मैक्य शुद्ध चैतन्य तथा वेदान्तों (उपनिषदों) के मध्य उस प्रकार से बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध नहीं है जिस प्रकार का बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध घटादि विषयों तथा इन्द्रियादि के मध्य होता है क्योंकि जिस प्रकार से अज्ञात घटादि विषय को इन्द्रियाँ प्रकाशित करती हैं, उस प्रकार से नितान्त अज्ञात प्रमेय जीवब्रह्मैक्य शुद्ध चैतन्य का वेदान्तों (उपनिषदों) के द्वारा बोधन नहीं किया जाता है। तथापि एक

प्रकार से प्रमेय जीवब्रह्मैक्य शुद्ध चैतन्य का वेदान्तों (उपनिषदों) के द्वारा बोधन होता है क्योंकि जब तक वेदान्तों के द्वारा तत्त्वमसि आदि वाक्यों के द्वारा जीवब्रह्मैक्य शुद्ध चैतन्य का बोधन नहीं किया जाता तब तक जीवब्रह्मैक्य शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार प्रमाता को होता नहीं है। इस कारण लाक्षणिक रूप से ही सही प्रमेय जीवब्रह्मैक्य शुद्ध चैतन्य तथा वेदान्तों (उपनिषदों) के मध्य बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है।

प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च।

व्याख्या : इस शास्त्र का प्रयोजन तो जीवब्रह्मैक्यरूपी प्रमेयगत अज्ञान की निवृत्ति तथा स्वस्वरूप आनन्द की अवाप्ति है।

विशेष : अनुबन्धचतुष्टय में चतुर्थ अनुबन्ध है प्रयोजन। शास्त्रों में जब तक प्रयोजन का प्रतिपादन नहीं किया जाता है तब तक कोई भी प्रेक्षावान् व्यक्ति उस शास्त्र का अध्ययन करने में प्रवृत्त नहीं होता है। इस कारण अधिकारी, विषय तथा सम्बन्ध का प्रतिपादन करने के उपरान्त प्रयोजन का प्रतिपादन भी आवश्यक तथा अनिवार्य है। इसी कारण प्रयोजन का प्रतिपादन सदानन्द योगीन्द्र वेदान्तसार में करते हैं। वेदान्तसार की इस पंक्ति का आशय यह है कि इस शास्त्र के दो प्रयोजन हैं – इस शास्त्र का प्रमेय है जीवब्रह्मैक्य, तद्गत अज्ञान की निवृत्ति प्रथमतः इसका प्रयोजन है। परन्तु केवल अज्ञान की निवृत्ति क्यों कर प्रयोजन हो सकेगी? इस कारण इसका दूसरा भी प्रयोजन बताया गया कि स्वस्वरूप आनन्द की अवाप्ति भी इस शास्त्र का प्रयोजन है। सार रूप में अगर कहना हो तो कहा जा सकता है कि जीवब्रह्मैक्य शुद्ध चैतन्य विषयक अज्ञान की निवृत्ति ही वेदान्तसार तथा वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन है। परन्तु जीवब्रह्मैक्य शुद्ध चैतन्य विषयक अज्ञान की निवृत्ति अभावस्वरूप होने के कारण कोई प्रयोजन नहीं हो सकती है क्योंकि प्रयोजन केवल दो प्रकार के ही हो सकते हैं या तो सुखात्मक अथवा दुःखनिवृत्तिरूप। चिन्मात्रविषयक अज्ञान की निवृत्ति न तो स्वयं में सुखात्मक है और न तो यह दुःखनिवृत्तिरूप ही है। फिर इसको कैसे प्रयोजन माना जा सकता है? तो इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए वेदान्तसार में बताया गया कि वस्तुतः जीवब्रह्मैक्य शुद्ध चैतन्य विषयक अज्ञान की निवृत्ति हो जाना ही वस्तुतः स्वस्वरूप आनन्द की अवाप्ति है। इस कारण जीवब्रह्मैक्य शुद्ध चैतन्य विषयक अज्ञान की निवृत्ति स्वस्वरूप आनन्द की प्राप्ति रूप है, फलस्वरूप यह पुरुषार्थ है। ऐसा नहीं है कि स्वस्वरूप आनन्द कोई अन्य वस्तु है जिसको प्राप्त करना है। बल्कि यह प्रमाता का स्वयं का स्वरूप है। वह नित्यप्राप्त है। उसको प्राप्त करना किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना नहीं है। इसी कारण अद्वैतवेदान्त मत में मोक्ष कोई अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है। यह कुछ वैसा ही है जैसे कि किसी को अपने कण्ठ में धारण किया हुआ कण्ठहार विस्मृत हो गया था। इस विस्मृति के कारण वह समझ रहा था कि उसका कण्ठहार कहीं खो गया है। परन्तु ज्यों ही उसको यह पता चलता है कि उसका कण्ठहार उसके कण्ठ में ही है, वह कण्ठहार उसको तुरन्त प्राप्त हो जाता है। उसको तत्क्षण ही यह बोध हो जाता है कि उसका कण्ठहार कहीं खोया नहीं था, उसको प्राप्त करने के लिए उसको कुछ प्रयास भी करने की आवश्यकता नहीं है। केवल यह अवबोध पर्याप्त है कि उसका कण्ठहार उसके कण्ठ में ही है। केवल अविद्या की निवृत्ति हो जाना ही पर्याप्त है। बस उतने से ही उसका कण्ठहार उसको प्राप्त हो जाता है। उस कण्ठहार की प्राप्ति के लिए उसको कोई अन्य व्यापार या श्रम नहीं करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार की स्थिति जीवब्रह्मैक्यरूपी प्रमेय की भी है। इस को जान लेना मात्र ही वस्तुतः इस ऐक्य की सम्पत्ति है। इस जीव ब्रह्मैक्य के सम्पादन के लिए कुछ अन्य व्यापार कर्तव्य नहीं हैं। बल्कि जीवब्रह्मैक्यरूपी प्रमेय को जान लेना ही जीवब्रह्मैक्य को सम्पन्न कर लेना है। अविद्या का निवृत्त हो जाना तथा स्व स्वरूप आनन्द की प्राप्ति हो जाना इन दोनों में कोई भी भेद या विलम्ब नहीं है। इसी कारण वेदान्तसार

के लेखक सदानन्द योगीन्द्र 'तरति शोकमात्मवित्' आत्मा को जानने वाला शोक को पार कर लेता है, तथा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है; इत्यादि श्रुतियों का उद्धरण देते हैं।

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलसन्तप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्ड. उ. 1/2/12) इत्यादिश्रुतेः।

स गुरुः परमकृपयाध्यारोपापवादन्यायेनैनमुपदिशति
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक, प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।(मुण्ड. उ. 1/2/13) इत्यादिश्रुतेः।

व्याख्या : दीप्तशिरा (जिस व्यक्ति का सिर जल रहा हो, ऐसा व्यक्ति) जैसे जलराशि के पास जाता है, उसी प्रकार से यह अधिकारी जन्म, मरण आदि संसार के अनल सन्तप्त हो कर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाकर उसका ही अनुसरण करता है क्योंकि उसको (उस आत्मतत्त्व को) जानने के लिए वह अधिकारी समित्पाणि (हाथ में समिधा लेकर) श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाये, इत्यादि श्रुतियाँ हैं। वह गुरु परम कृपा से अध्यारोप तथा अपवाद न्याय से इनको उपदेश देता है जैसा कि श्रुति कहती है – समीप में आये हुए उस प्रशान्तचित्त, शम से अन्वित अधिकारी को वह विद्वान् तत्त्वतः उस ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है जिससे कि वह अक्षर पुरुष को जान ले।

विशेष : अधिकारी के जैसे स्वरूप का निरूपण किया था, उसमें ग्रन्थकार ने श्रुति का प्रामाण्य भी दिखलाया। इस विषय में मुण्डकोपनिषत् से दो मन्त्रों का सन्दर्भ लेते हुए अधिकारी की प्रदर्शित अवधारणा का समर्थन किया गया है।

10.3 सारांश

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि नितान्त निर्मल अन्तःकरण वाला जो प्रमाता नित्यानित्यवस्तुविवेक, ऐहिक तथा आमुष्मिक फलभोग के प्रति वैराग्य, शमादि छह से सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व इन चार साधनों से सम्पन्न होगा वही वेदान्तविद्या का अधिकारी है। अन्तःकरण के निर्मलीकरण के लिए काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का वर्जन करते हुए नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना का अनुष्ठान करना अपेक्षणीय है। काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का वर्जन करते हुए नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना का अनुष्ठान करने के लिए वेदांगों के साथ वेदों का विधिपूर्वक अध्ययन करके समग्र वेदों के अर्थों का अधिगम करना आवश्यक है। इसी कारण वेदांगों के साथ वेदों का विधिपूर्वक अध्ययन करके समग्र वेदों के अर्थों का अधिगम करके इस जन्म में या किसी पिछले जन्म में काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का वर्जन करते हुए नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना के अनुष्ठान से जिसका मन नितान्त निर्मल हो गया है, ऐसा उपरोक्त चार साधनों से सम्पन्न जो प्रमाता है उसी प्रमाता को वेदान्तशास्त्र का शास्त्रसम्मत अधिकारी माना जाता है।

वेदान्तशास्त्र तथा उसके प्रकरण ग्रन्थ वेदान्तसार का विषय है जीवब्रह्मैक्य। जीवब्रह्मैक्य का आशय है जीव तथा ब्रह्म की एकता से। जीव तथा ब्रह्म की एकता का आशय यह नहीं है कि जीव तथा ब्रह्म दोनों का नील तथा घट की तरह अभेद है। क्योंकि नील तथा घट का अभेद होने पर भी वस्तुतः नील तथा घट का भेद तो सदा सर्वदा बरकरार रहता है। इसलिए यहाँ पर जीव तथा ब्रह्म की एकता का तात्पर्य

जीव के अर्थ अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा ईश्वर के अर्थ सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य में से विरुद्धांश अल्पज्ञत्वादि तथा सर्वज्ञत्वादि का परित्याग करते हुए शुद्ध चैतन्य के प्रतिपादन से है। इसका निष्कर्ष यह है कि वस्तुतः एकमात्र तत्त्व शुद्ध चैतन्य ही है। वह सभी धर्मों से रहित है, इस कारण निर्धर्मक है। वही शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक ब्रह्म वेदान्तसार तथा वेदान्तशास्त्र का प्रमेय विषय है।

शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक ब्रह्म व वेदान्तसार तथा वेदान्तशास्त्र के मध्य बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है। परन्तु यह ध्येय है कि यहाँ पर यह बोध्यबोधकभाव उस प्रकार से सम्भव नहीं होता है जिस प्रकार घटादि पदार्थों तथा उसके वाचक पदों के मध्य बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध बनता है क्योंकि उस प्रकार से शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक ब्रह्म व वेदान्तसार तथा वेदान्तशास्त्र के मध्य बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि ब्रह्म किसी भी शब्द का अर्थ नहीं है। ब्रह्म वाक्य का अभिधा से भी बोध्य अर्थ नहीं है। बल्कि लक्षणा के माध्यम से शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक ब्रह्म का बोधन वेदान्तशास्त्र तथा वेदान्तसार के द्वारा किया जाता है।

वेदान्तशास्त्र तथा वेदान्तसार का प्रयोजन है अविद्या की निवृत्ति तथा स्वस्वरूप की अवाप्ति। यद्यपि अविद्या की निवृत्ति तथा स्वस्वरूप की अवाप्ति में कोई भी भेद नहीं है। दोनों एक ही हैं। तथापि निवृत्ति के रूप में अविद्या निवृत्ति अभावात्मक होने के कारण पुरुषार्थ नहीं हो सकती है, परन्तु स्वस्वरूपावाप्ति रूप होने के कारण यह परमपुरुषार्थ है क्योंकि यह स्वस्वरूप आनन्दस्वरूप है।

10.4 शब्दावली

नित्यानित्यवस्तुविवेक, शमादिषट्कसम्पत्ति, साधनचतुष्टय, नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, निषिद्ध कर्म, प्रायश्चित्त, उपासना।

10.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार विद्वन्मनोरंजिनी तथा हिन्दी व्याख्या के साथ, बदरीनाथ शुक्ल मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
- सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार आपदेवकृत बालबोधिनी तथा बालव्युत्पत्तिवर्धिनी हिन्दी व्याख्या, सच्चिदानन्द मिश्र, दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

10.6 अभ्यास प्रश्न

1. वेदान्तविद्या का अधिकारी होने के लिए क्या अपेक्षित है?
2. कर्म कितने प्रकार के हैं; स्पष्ट कीजिए
3. चित्तशुद्धि किस प्रकार से सम्भव है?
4. शमादिषट्क सम्पत्ति का आशय क्या है?
5. साधनचतुष्टयों की सम्पत्ति में क्या कोई क्रम भी है स्पष्ट कीजिए
6. वेदांतसार ग्रन्थ का विषय क्या है? स्पष्ट कीजिए।
7. वेदांतसार ग्रन्थ का प्रयोजन क्या है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई 11 अज्ञान

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर आप –

- वेदान्त के अनुसार अज्ञान की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- जान सकेंगे कि अज्ञान की वेदान्ती सृष्टिप्रक्रिया में क्या भूमिका है और उसका क्या स्वरूप है।
- अध्यारोप क्या है इसको समझ सकेंगे।
- अद्वैतवेदान्त के अनुसार वस्तु क्या है? तथा अवस्तु क्या है? इसको जान सकेंगे।
- अज्ञान का व्यष्टि तथा समष्टि के आधार पर किस प्रकार से भेद होता है, यह जान सकेंगे।
- अज्ञान की समष्टि तथा व्यष्टि के भेद से किस प्रकार से ईश्वर तथा प्राज्ञ का भेद होता है, इसको जान सकेंगे।
- अज्ञान की दो शक्तियों, आवरण शक्ति तथा विक्षेप शक्ति के विषय एवं प्रकार्य के बारे में जान सकेंगे; तथा
- यह भी जान सकेंगे कि अद्वैत के ही सत्य होने पर भी किस प्रकार से विभिन्नता की व्याख्या अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार की जा सकती है।

11.1 प्रस्तावना

वेदान्त के अनुसार केवल एक ही तत्त्व पारमार्थिक रूप से है। उस तत्त्व को ब्रह्मन् कहा जाता है। परन्तु हमारा दैनिक व्यवहार विभिन्न प्रकार के भेदों को दृष्टि में रखते हुए होता है। बहुत सारे तत्त्व हमारे दैनन्दिन व्यवहार में आते हैं। इस परिस्थिति में समस्या यह उपस्थित होती है कि यदि यह अनेकता है तो अद्वैत किस प्रकार से सम्भव हो सकता है? या तो अनेकता ही हो सकती है और या तो अद्वैत ही हो सकता है। दोनों की स्थिति किसी भी प्रकार से व्यवस्थापित कर पाना सम्भव नहीं है क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है। हमारे अनुभव जहाँ एक तरफ विभिन्नता का प्रस्ताव करते हैं, वहीं दूसरी तरफ श्रुति अद्वैत का प्रतिपादन करती है। इन दोनों का

किस प्रकार से समन्वय किया जा सकता है? यह समस्या है। इस समस्या का समाधान करने के लिए वेदान्त में अध्यारोप तथा अपवाद की प्रक्रिया का उपस्थापन किया गया है। अध्यारोप तथा अपवाद की प्रक्रिया का उपपादन अज्ञान के माध्यम से किया जाता है। प्रश्न है कि यह अज्ञान क्या है? ऐसा सामान्यतया प्रतीत होता है कि अज्ञान का अर्थ है ज्ञान का अभाव क्योंकि ज्ञान का विरोधी अज्ञान है। परन्तु वेदान्त मत में अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। अपितु अज्ञान भावात्मक है। इसी प्रसंग को इस इकाई में आप समझने का प्रयास करेंगे।

11.2 वेदान्तसार अज्ञान भाग–असर्पभूतायां से स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते पर्यन्त (11-18)

अध्यारोप पद का अर्थ

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवत् वस्तुनि अवस्त्वारोपः अध्यारोपः।

व्याख्या : असर्पभूत रज्जु में सर्पारोप की तरह अवस्तु में वस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। जो रस्सी सर्प नहीं है, उस रस्सी में सर्प के आरोप के समान अवस्तु में वस्तु का आरोप करना ही अध्यारोप है।

विशेष : हम सबको बहुधा इस प्रकार का भ्रम होता है कि हमारे सामने रस्सी पड़ी है परन्तु उस रस्सी को हम सर्प समझ लेते हैं। यहाँ पर यह विचार करना चाहिए कि रस्सी को सर्प किस प्रकार से समझ लिया जाता है? होता यह कि सर्प पहले कभी देखा गया है, उसी पूर्व में ज्ञात सर्प का हम रस्सी में आरोप कर लेते हैं। रस्सी में सर्प का आरोप कर लेने पर हमें रस्सी नहीं दिखायी देती है अपितु केवल सर्प ही दिखायी देता है। सामने हमारे रस्सी है, सर्प नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि रस्सी ही वस्तु है क्योंकि वह रस्सी वहाँ पर विद्यमान है। जो विद्यमान नहीं है वह वस्तु नहीं हो सकता। रस्सी विद्यमान है, इस कारण रस्सी वस्तु है। सर्प वहाँ पर विद्यमान तो नहीं है, परन्तु प्रतीत होता है। इस कारण सर्प वस्तु नहीं है, अवस्तु है। यह एक उदाहरण दे दिया गया है। इस प्रकार से जहाँ कहीं पर भी यह घटित होता है, उसे हम अध्यारोप ही कहते हैं। इस कारण अध्यारोप का अर्थ सीधा सीधा इतना ही समझना चाहिए कि वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। अवस्तु में अवस्तु का आरोप नहीं हो सकता क्योंकि फिर तो दोनों ही असत् हैं, फिर किस का आरोप किस में हो सकेगा? इस कारण अवस्तु का आरोप वस्तु में होता है। इसलिए वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप माना जाता है।

वस्त ुतथा अवस्तु का विवेक

वस्तु सच्चिदानन्दमद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजड़समूहोऽवस्तु।

व्याख्या : वस्तु है सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म और अवस्तु है अज्ञान आदि जड़समूह।

विशेष : रज्जु तथा सर्प का उदाहरण प्रदर्शित कर अध्यारोप का अर्थ बता देने के बाद प्रकृत स्थल में भी उसको स्पष्ट किया जा रहा है। यहाँ पर वस्तु है सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म। सच्चिदानन्द कहने का तात्पर्य है सत् होना, यानी सत्ता स्वरूप होना। चित् होना यानी ज्ञानात्मक होना तथा आनन्द कहने का अर्थ है आनन्दस्वरूप होना। यद्यपि इन तीनों को नितान्त उस रूप में नहीं समझा जा सकता है जिस अर्थ में व्यवहार में हम इनका प्रयोग करते हैं। इसके बाद शब्द आता है अद्वय यानी अद्वैत।

ब्रह्मन् किसी भी प्रकार के द्वैत से रहित है। उसके किसी भी प्रकार के द्वैत से रहित होने का आधार यही है कि अज्ञान आदि समस्त जड़ समूह अवस्तु है, वस्तु नहीं है। यदि वस्तु केवल ब्रह्मन् है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि तत्त्व केवल एक ही है। इस कारण अद्वैत ही है, यह निर्धारित होता है। अज्ञान आदि जड़ का समूह तो अवस्तु है।

अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वेत. उ. 1/3) इत्यादिश्रुतेश्च।

व्याख्या : अज्ञान तो सत् तथा असत् इन दोनों रूपों में अनिर्वचनीय है, त्रिगुणात्मक है, ज्ञानविरोधी है, भावरूप है, यत्किञ्चित् है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। क्योंकि मैं अज्ञ हूँ, ऐसा अनुभव होता है तथा 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' देव की आत्मशक्ति उसके अपने ही गुणों से निगूढ है, इस प्रकार से श्रुति श्वेताश्वतर उपनिषत् की पंक्ति भी प्रमाण के रूप में प्राप्त होती है।

विशेष : यहाँ पर अज्ञान का स्वरूप बताया जा रहा है। अज्ञान का स्वरूप बताने के क्रम में अज्ञान क्या है यह भी बताया जा रहा है तथा अज्ञान में प्रमाण क्या है? यह भी बताया जा रहा है। प्रथमतः अज्ञान के स्वरूप को बताते हुए अज्ञान के विषय में पाँच बातें बतायी गयी हैं। उसके बाद अज्ञान में प्रमाण बताया गया है। अज्ञान के विषय में पाँच बातें ये हैं –

1. प्रथम बात यह है कि अज्ञान सत् तथा असत् इन दोनों ही रूपों में अनिवर्चनीय है। वस्तु की दो कोटियाँ हैं सत् तथा असत्। अज्ञान इन दोनों ही कोटियों में संगत नहीं बैठता है। उसको न तो सत् कहा जा सकता है और न तो असत् ही कहा जा सकता है क्योंकि सत् कहने में भी समस्या है और असत् कहने में भी। सत् इसलिए नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सत् वही हो सकता है जो बाधित नहीं होता हो। परन्तु अज्ञान बाधित होता है। विचारार्थ ऊपर प्रदत्त उदाहरण को लिया जाये। रस्सी में सर्प का भ्रम होता है। किन परिस्थितियों में रस्सी में सर्प का भान होता है? यदि रस्सी का ज्ञान हो, यानी यदि रस्सी का वास्तविक स्वरूप हमको ज्ञात हो तो रस्सी में सर्प का भ्रम नहीं हो सकता है। रस्सी में सर्प का भ्रम होने की यह पूर्वशर्त है कि हमें रस्सी का ज्ञान नहीं हो। परन्तु केवल रस्सी का ज्ञान नहीं होने मात्र से ही रस्सी में सर्प का भ्रम नहीं होता। इसके अलावा भी कुछ अन्य कारण आवश्यक होते हैं। इसीलिए अज्ञान को अभावात्मक नहीं माना जाता है। अब प्रश्न यह है कि रस्सी जो सर्प प्रतीत होता है, वह सर्प सत् है या असत् है? थोड़ी ही देर के बाद जब हम प्रकाश आदि की सहायता से उस रस्सी का विधिवत् अवलोकन करते हैं तो हमको पता चल जाता है कि वह सर्प नहीं है। यानी पहले तो हमको रस्सी में सर्प का ज्ञान होता है, फिर बाद में हमको उसी रस्सी में यह ज्ञान होता है कि वह सर्प नहीं है। पहले सर्प की प्रतीति होती है फिर सर्प का निषेध होता है। इसी से यह निष्कर्ष निकलता है कि रस्सी में प्रतीयमान सर्प न तो सत् है और न ही असत् है क्योंकि यदि रस्सी में प्रतीयमान सर्प सत् होता तो उसका बाध नहीं होना चाहिए था। परन्तु परकालीन यह सर्प नहीं है इस ज्ञान के द्वारा उस रस्सी में प्रतीयमान सर्प का बाध होता है। यदि यह कहा जाये कि रस्सी में प्रतीयमान सर्प को असत् ही क्यों न मान लिया जाये तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि जो असत् होता है उसकी प्रतीति नहीं

होती है। असत् वही है जिसकी प्रतीति नहीं होती हो। जैसे कि खरगोश का सींग इत्यादि। खरगोश का सींग प्रतीयमान नहीं होता है, इस कारण उसको हम असत् मानते हैं। परन्तु रस्सी में प्रतीयमान सर्प खरगोश के सींग की तरह असत् नहीं है क्योंकि वह प्रतीयमान है। इस प्रकार रस्सी में प्रतीयमान सर्प में न तो सत् होने की योग्यता है और न तो असत् होने की। इन दोनों ही वर्गों में वह नहीं रखा जा सकता है। इसीलिए कहा गया है कि अज्ञान आदि जड़ समूह सत् तथा असत् इन दोनों के द्वारा ही अनिवर्वचनीय हैं। अनिर्वचनीय होने का अर्थ ही है न तो सत् होना और न तो असत् होना। अज्ञान की तथा अन्य जागतिक वस्तुओं की प्रतीति अपरोक्षत्वेन होती भी है, तथा ब्रह्म साक्षात्कार होना पर उनका बाध भी होता है। अज्ञान में सत् का भी वैलक्षण्य है तथा अज्ञान में असत् का भी वैलक्षण्य है। इस कारण अज्ञान को सत् तथा असत् दोनों ही नहीं माना जा सकता है। इसीलिए कहा गया है कि अज्ञान अनिर्वचनीय है। परन्तु अनिर्वचनीय का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि उसके बारे में कुछ भी कहा नहीं जा सकता है, अनिर्वचनीय का अर्थ मात्र इतना ही है कि उसको न तो सत् कहा जा सकता है और न तो असत् कहा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि अज्ञान के अनिर्वचनीय होने के कारण किसी भी शब्दसमूह के द्वारा अज्ञान का अभिधान नहीं हो सकता है। बल्कि इसका आशय मात्र यह है कि इन दोनों शब्दों के द्वारा सत् तथा असत् के द्वारा अज्ञान का अभिधान नहीं किया जा सकता है।

2. द्वितीय बिंदु यह है कि अज्ञान त्रिगुणात्मक है। अज्ञान त्रिगुण स्वरूप है। सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणों का आश्रय होना ही अज्ञान का त्रिगुणात्मक होना है। अज्ञान में इन तीनों ही गुणों का समन्वय है। इसीलिए अज्ञान को त्रिगुणात्मक कहा जा रहा है। अज्ञान को त्रिगुणात्मक कहने के लिए आधार हैं 'अजामेकां लोहित कृष्णशुक्लाम्' इत्यादि श्रुतिवाक्य। इन श्रुतिवाक्यों में स्पष्ट रूप से एक, अजा को लोहित, कृष्ण तथा शुक्ल बताते हुए अनादि अज्ञान को ही त्रिगुणात्मक बताया जा रहा है। लोहित रजोगुण का प्रतीक है तो शुक्ल सत्त्व का और कृष्ण तमोगुण का प्रतीक है। इस प्रकार से इस श्रुति में उस अजा माया के द्वारा बहुधा सृष्टि का प्रणयन बताया गया है।

3. तीसरी बात यह बतायी गयी है कि अज्ञान ज्ञान का विरोधी है। अज्ञान तथा ज्ञान दोनों एक दूसरे के विरोधी होते हैं। घटविषयक अज्ञान घटविषयक ज्ञान का विरोधी होता है। इसी प्रकार से इसका उलटा भी सत्य है कि घटविषयक ज्ञान घटविषयक अज्ञान का विरोधी होता है। रज्जु में जब सर्प का भ्रम होता है तो उस समय रज्जु का ज्ञान यदि हो तो रज्जु में सर्प का भ्रम सम्भव नहीं होता। यह भ्रम तभी सम्भव होता है जब हमें रज्जु का ज्ञान न रहे। रज्जु के अज्ञान की दशा में ही रज्जु में सर्प का भ्रम होता है।

4. चतुर्थ बात यह बतायी गयी है कि अज्ञान भाव रूप है। अभी बताया गया था कि अज्ञान तथा ज्ञान दोनों एक दूसरे के विरोधी होते हैं। बहुधा यह भ्रम हो जाता है कि अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव है। यदि अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव लिया जाये तो भी अज्ञान तथा ज्ञान दोनों एक दूसरे के विरोधी ठहरते हैं। परन्तु अद्वैतवेदान्त में अज्ञान तथा ज्ञान दोनों एक दूसरे का विरोधी मानते हुए भी अज्ञान को ज्ञान का अभाव नहीं माना गया है। इनके अनुसार अज्ञान यद्यपि ज्ञान का विरोधी है तथापि वह भावरूप है। अज्ञान ही समस्त सृष्टि का कारण है। यदि अज्ञान ज्ञान का अभाव हो तो यह मानने की पारी आयेगी कि अभाव से संसार

की सृष्टि होती है। परन्तु अभाव से भाव की सृष्टि नहीं हो सकती है। बहुत सारे स्थलों में श्रुतियों में वाक्य प्राप्त होते हैं कि कथमसतः सज्जायेत, किस प्रकार से असत् से सत् की उत्पत्ति सम्भव है। इसी कारण यहाँ पर बताया गया कि अज्ञान भावरूप है।

5. पाँचवीं बात यहाँ पर यह बतायी गयी है कि अज्ञान यत्किञ्चित् है। बहुत बार यह समझ लिया जाता है कि यत्किञ्चित् कहने का तात्पर्य अज्ञान को अनिर्वचनीय बताना है। परन्तु अज्ञान को अनिर्वचनीय बताने के लिए अज्ञान को यत्किञ्चित् नहीं कहा जा रहा है। बल्कि उसको यत्किञ्चित् बताने के पीछे उद्देश्य यह बताना है कि वही अज्ञान भ्रम का उपादान है। कुछ अन्य व्याख्याकार यत्किञ्चित् पद का उद्देश्य माया या अज्ञान की भावरूपता ब्रह्मन् की तरह नहीं हो सकती है यह सिद्ध करने के लिए बताते हैं।

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते।तथाहि यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः' 'अजामेकां' (श्वेताश्वतर उपनिषद् 4/5) इत्यादिश्रुतेः।

व्याख्या : इस अज्ञान का समष्टि तथा व्यष्टि के भेद से दो प्रकार से व्यवहार होता है। जैसे कि वृक्षों की समष्टि के अभिप्राय से एक वन इस प्रकार से व्यपदेश होता है, शब्द का प्रयोग होता है। या जैसे जलों की समष्टि के अभिप्राय से एक जलाशय इस प्रकार से व्यपदेश होता है, शब्द का प्रयोग होता है। उसी प्रकार से नानात्वेन प्रतिभासमान जीवगत अज्ञान की समष्टि के अभिप्राय से जीवगत अज्ञान के एकत्व का व्यपदेश होता है, शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि श्वेताश्वतर उपनिषद् की अजामेकाम् एक अजा, इत्यादि श्रुतियाँ हैं।

विशेष : अद्वैतवेदान्त में अज्ञान की समष्टि तथा अज्ञान की व्यष्टि दोनों की स्वीकृति प्राप्त होती है। परन्तु ध्येय यह है कि अज्ञान की समष्टि तथा अज्ञान की व्यष्टि दोनों भिन्न–भिन्न नहीं होती हैं। भिन्न–भिन्न न होने पर भी अज्ञान की समष्टि तथा अज्ञान की व्यष्टि दोनों ही प्रकार से व्यवहार होता है। इसके लिए कई एक उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम उदाहरण वृक्ष तथा वन का दिया गया है। यदि पूछा जाये कि वन क्या है? तो यही उत्तर देना पड़ेगा कि वन वृक्षों का समूह है। यानी वृक्षों की समष्टि के लिए एक नाम है वन। अब हम व्यवहार तो वन तथा वृक्ष दोनों का ही करते हैं। वन भी बोलते हैं तथा वृक्ष भी बोलते हैं। परन्तु वन तथा वृक्ष में कोई पारमार्थिक भेद नहीं होता है। हम कहते हैं कि एक वन है। इस वन की एकता का क्या तात्पर्य है? वृक्षों की समष्टि को जब हम दृष्टि में रखते हैं तो हम कहते हैं कि एक वन। परन्तु जब वृक्षों की व्यष्टि हमारे लिए वक्तव्य होती है तो हम कहते हैं कि अनेक वृक्ष। अब अनेक वृक्ष तथा एक वन व्यवहार में भिन्न–भिन्न रूप में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु यह ध्यातव्य है कि तथ्यात्मक रूप से, वस्तुगत रूप में इन दोनों के सन्दर्भ भिन्न नहीं होते हैं। इसी प्रकार से जल तथा जलाशय का उदाहरण भी लिया जा सकता है। जल की समष्टि को दृष्टि में रखते हुए हम एक जलाशय इस प्रकार से शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु जल की व्यष्टि को दृष्टि में रखते हुए अनेक जल इस प्रकार से शब्द का प्रयोग करते हैं। व्यवहार या शब्दप्रयोग के भिन्न–भिन्न होने पर भी सन्दर्भ भिन्न नहीं होता। इसी प्रकार से सेना आदि भी अनेक दष्टान्त सोचे तथा समझे जा सकते हैं। इसी के परिप्रेक्ष्य में अज्ञान की समष्टि तथा व्यष्टि को

समझना चाहिए। जीव अनेक रूप में प्रतिभासित होते हैं। अनेकत्वेन प्रतिभासित होनेवाले जीवों के अज्ञान की समष्टि के अभिप्राय से उस अज्ञान की समष्टि का व्यपदेश किया जाता है। परन्तु जब उन्हीं अज्ञानों की व्यष्टि की दृष्टि से शब्द प्रयोग किया जाता है तो अज्ञान के अनेकत्व की बात की जाती है। यदि अज्ञान अनेक जीवों में गत है, तथा वे जीव भिन्नत्वेन प्रतिभासित होते हैं, तो अज्ञान के अनेकत्व की बात ही स्वीकार की जानी चाहिए। किस कारण उस अज्ञान के एकत्व को स्वीकार किया जाता है? किस कारण से उस अज्ञान के एकत्व का व्यवहार किया जाता है? तो इसका समाधान यह दिया गया कि अजामेकाम् इत्यादि श्रुतियाँ उस अज्ञान के एकत्व को प्रतिपादित करती हैं। इस कारण अज्ञान के एकत्व को स्वीकार करना आवश्यक है।

इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना।एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञसर्वेश्वरत्वसर्व–नियन्तृत्वादि–गुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्।' यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड. उ. 1/1/9) इति श्रुतेः।ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति च उच्यते।

व्याख्या : उत्कृष्टोपाधि होने के कारण यह समष्टि विशुद्धसत्त्वप्रधान है। इस समष्टि से उपहित चैतन्य सकल अज्ञान का अवभासक होने के कारण सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियन्त्रकत्व आदि गुणों से युक्त, अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत्कारण तथा ईश्वर इन नामों से व्यपदिष्ट होता है क्योंकि यः सर्वज्ञः स सर्ववित् जो सर्वज्ञ है, वह सर्ववेत्ता है इस प्रकार की श्रुति प्राप्त होती है। ईश्वर की यह समष्टि समस्त कार्यों का कारण होने के कारण कारणशरीर, आनन्दप्रचुर होने के कारण तथा कोश की तरह आच्छादक होने के कारण आनन्दमयकोश, सर्वोपरम होने के कारण सुषुप्ति तथा इसी कारण स्थूल प्रपंच तथा सूक्ष्म प्रपंच के लय का स्थान भी कही जाती है।

विशेष : ऊपर अज्ञान की समष्टि तथा व्यष्टि के भेद से द्विविध व्यवहार की बात बतायी थी। उसमें से अज्ञान की समष्टि उत्कृष्टोपाधि है। उत्कृष्टोपाधि होने का तात्पर्य है उत्कृष्ट ईश्वर की उपाधि। यह अज्ञान की समष्टि उत्कृष्ट ईश्वर की उपाधि है। तथा उत्कृष्ट ईश्वर की उपाधि होने के कारण इसमें विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता है। विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता होने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर को कभी भी भ्रान्ति नहीं हो सकती है। सत्त्व का कार्य है प्रकाशन करना। विशुद्ध सत्त्व का प्राधान्य होने के कारण प्रकाशकत्व आता है। इसी कारण इस अज्ञान की समष्टि में सकलाज्ञानावभासकत्व आता है। सकलाज्ञानावभासकत्व होने के कारण ही अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य ईश्वर सर्वज्ञ होता है। सकलाज्ञानावभासकत्व का तात्पर्य समस्त अज्ञानों का अवभासक होना है, यानी अज्ञान की समष्टि समस्त अज्ञानों की अवभासक होती है, इस कारण उस अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य ईश्वर सर्वज्ञ होता है। इसमें श्रुति का भी प्रामाण्य है। यः सर्वज्ञः स सर्ववित् – इत्यादि श्रुतिवाक्य भी इस विषय में समर्थन देते हैं। ईश्वर की यह अज्ञानसमष्टि कारण शरीर है क्योंकि यह सबके प्रति कारण है। सबके प्रति कारण होने के कारण इसको कारण शरीर कहा जाता है। यह समष्टि आनन्द प्रचुर है, आनन्द का इसमें प्राचुर्य है। इसके साथ ही साथ यह अज्ञानसमष्टि आनन्द की उसी प्रकार से आच्छादिका होती है जैसे तलवार की आच्छादिका तलवार की म्यान होती है। इसी कारण इसको आनन्दमय कोश भी कहा जाता है। यह सर्वोपरम है। इसी अज्ञान की समष्टि में सबका उपरम होता है,

इस कारण इसको सुषुप्ति भी कहा जाता है। इसी कारण इसको स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों ही प्रपंचों का लयस्थान भी कहा जाता है।

यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति तथाज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः' इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋग्वेद 6/47/18) इत्यादिश्रुतेः ।अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः ।इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना ।एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यत एकाज्ञानावभासकत्वात् ।अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयाऽनतिप्रकाशकत्वात् ।अस्यापीयमहङ्कारादिकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति च उच्यते।

व्याख्या : जिस प्रकार वन की व्यष्टि के अभिप्राय से वृक्षाः इस प्रकार से वृक्षों के बहुत्व का व्यपदेश होता है, या जिस प्रकार से जलाशय की व्यष्टि के अभिप्राय से जलानि इस प्रकार से जलों के बहुत्व का व्यपदेश होता है, ठीक उसी प्रकार से अज्ञान की व्यष्टि के अभिप्राय से अज्ञान के बहुत्व का भी व्यपदेश होता है। इस विषय में प्रमाण हैं : इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते इस प्रकार की श्रुतियाँ। व्यस्त तथा समस्त का व्यापक होने के कारण यानी एक–एक का तथा समस्त का व्यापक होने के कारण इनकी व्यष्टिता तथा समष्टिता का व्यपदेश होता है। यह जो व्यष्टि है वह निकृष्टोपाधि होने के कारण मलिनसत्त्वप्रधाना है यानी इनमें मलिन सत्त्व की प्रधानता है। इससे उपहित जो चैतन्य है वह अल्पज्ञत्व, अनीश्वरत्व आदि गुणों से युक्त है, तथा उसको प्राज्ञ कहा जाता है क्योंकि वह केवल एक अज्ञान का ही अवभासक होता है। इसका प्राज्ञत्व इसी कारण है क्योंकि यह अस्पष्टोपाधि होने के कारण अनतिप्रकाशक होता है। इसकी भी यह व्यष्टि अहंकार आदि का कारण होने के कारण कारण शरीर कही जाती है। यह व्यष्टि आनन्द प्रचुर है, आनन्द का इसमें प्राचुर्य है। इसके साथ ही साथ यह अज्ञानव्यष्टि आनन्द की उसी प्रकार से आच्छादिका होती है जैसे तलवार की आच्छादिका तलवार की म्यान होती है। इसी कारण इसको आनन्दमय कोश भी कहा जाता है। यह सर्वोपरम है। इसी अज्ञान की व्यष्टि में सबका उपरम होता है, इस कारण इसको सुषुप्ति भी कहा जाता है। इसी कारण इसको स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों ही प्रपंचों का लयस्थान भी कहा जाता है।

'तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' (माण्डू. उ. 5) इति श्रुतेः सुखमहमवाप्सम् न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च ।अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाभेदः।

व्याख्या : उस समय (सुषुप्ति में) ईश्वर तथा प्राज्ञ चैतन्य से प्रदीप्त अतिसूक्ष्म अज्ञान की वृत्तियों से आनन्द का अनुभव करते हैं। क्योंकि श्रुति कहती है कि आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः–प्राज्ञ चेतोमुख आनन्दभुक् है। चेतोमुख होता हुआ प्राज्ञ आनन्द का उपभोक्ता है। इसी प्रकार से अनुभव भी इसका समर्थन करता है। सुषुप्ति के बाद उठने पर हमें अनुभव होता है कि मैं सुख पूर्वक सोया, कुछ भी नहीं जाना। इन दोनों में अज्ञान की व्यष्टि तथा समष्टि में वन तथा वृक्ष की तरह या जलाशय तथा जल की तरह अभेद है।

विशेष : सुषुप्ति की अवस्था में बहुत सारे दार्शनिक किसी भी प्रकार का कोई भी ज्ञान नहीं स्वीकार करते हैं, परन्तु अद्वैतवेदान्ती सुषुप्ति की दशा में ज्ञान को स्वीकार करते हैं। तथापि उस समय किस प्रकार का ज्ञान हो सकता है? किसी भी इन्द्रिय के

माध्यम से तो कोई ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि मन सहित समस्त इन्द्रियों का सुषुप्ति की अवस्था में उपरम होता है। सुषुप्ति की अवस्था में हमको किसी भी इन्द्रिय से कोई भी ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार से अनुमान आदि भी सम्भव नहीं होते। परन्तु सुषुप्ति के उपरान्त उठने पर हमको परामर्श होता है कि मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी नहीं जाना। इस प्रकार से होनेवाला परामर्श यह संकेत देता है कि सुषुप्ति की दशा में भी हमें कम से कम इतना ज्ञान तो हो ही रहा था कि मुझे कोई ज्ञान नहीं हो रहा है, मैं कुछ भी नहीं जान रहा हूँ। यह ज्ञान किस प्रकार से सम्भव होता है तो इसके लिए बताते हैं कि यह अनुभव विना वृत्ति के नहीं होता है। परन्तु सुषुप्ति की दशा में हमें इसी भी इन्द्रिय के माध्यम से अन्तःकरण की वृत्ति नहीं बन सकती है। उस समय केवल अविद्या की वृत्ति बनती है। उसी अविद्या की वृत्ति के द्वारा हमें अपने अज्ञान का भी ज्ञान होता है, अनुभव होता है। तथा उसी अविद्या की वृत्ति से आनन्द का भोग भी होता है। उसी आनन्द के भोग का स्मरण सुषुप्ति के बाद उठने पर होता है कि मैं सुखपूर्वक सोया। तथा न जानने का भी ज्ञान होता है कि मैंने कुछ नहीं जाना। परन्तु इन दोनों में अविद्या की समष्टि तथा व्यष्टि में उसी प्रकार से कोई भेद नहीं है जैसे वन तथा वृक्ष में कोई भेद नहीं होता है या जिस प्रकार से जलाशय तथा जल में कोई भेद नहीं होता है।

'एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाभेदः' 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' (माण्डू. उ. 6) इत्यादि श्रुतेः।

व्याख्या : इन दोनों उपाधियों से उपहित ईश्वर तथा प्राज्ञ में भी उसी प्रकार से कोई भेद नहीं होता है जैसे वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश में कोई भेद नहीं होता है या जिस प्रकार से जलाशय गत प्रतिबिम्ब तथा जलगत प्रतिबिम्ब में कोई भेद नहीं होता है क्योंकि श्रुति है कि एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् – यही सर्वेश्वर है, यही सर्वज्ञ है, यही अन्तर्यामी है, यही सबका कारण है, सभी भूतों का उत्पत्तिस्थान है, सभी भूतों का लयस्थान है।

विशेष : ऊपर अज्ञान की समष्टि तथा व्यष्टि में अभेद बताया है। यदि अज्ञान की समष्टि तथा अज्ञान की व्यष्टि में अभेद है तो उनसे उपहित जो ईश्वर तथा प्राज्ञ हैं उनमें भी अभेद ही होना आवश्यक है। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए यहाँ पर ईश्वर तथा प्राज्ञ का अभेद बताया।

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते' शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते (स आत्मा स विज्ञेयः) (माण्डू. उ 7) इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहित– चैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवद् विविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते ।

व्याख्या : वन तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाशों, जलाशयगत तथा जलगत प्रतिबिम्बों के आधारभूत अनुपहित आकाश की तरह अज्ञान तथा अज्ञान से उपहित चैतन्य का आधारभूत चैतन्य है जिसको कि तुरीय चैतन्य कहते हैं। क्योंकि शान्त, शिव, अद्वैत को चतुर्थ चैतन्य मानते हैं, वही आत्मा है, वही विज्ञेय है, इस प्रकार से माण्डूक्य उपनिषद् श्रुति कहती है। यही तुरीय शुद्ध चैतन्य अज्ञान तथा अज्ञान से उपहित चैतन्य इन

दोनों से तपाये हुए लोहे के पिण्ड से अग्नि की तरह विविक्त होता हुआ महावाक्य का लक्ष्य है, ऐसा कहा जाता है।

विशेष : ईश्वर, जीव के समान एक अन्य तत्व के विषय में भी बताना आवश्यक है वह है ब्रह्मन्। ब्रह्मन् तुरीय चैतन्य है। उसी को शुद्ध चैतन्य कहते हैं। जिस प्रकार से अग्नि से जब लोहा तपाया हुआ होता है तब अग्नि तथा लोहा ये दोनों भिन्न–भिन्न नहीं प्रतीत होते हैं। दोनों एक ही प्रतीत होते हैं, उससे दाह भी होता है। तथा उस दाह के विषय में व्यवहार भी होता है कि लोहा जला रहा है। परन्तु जलाना लोहे का धर्म नहीं है। लोहे के द्वारा जलाना सम्भव नहीं है। जलाना अग्नि के द्वारा ही सम्भव हो पाता है। इसको विवेक कर समझना पड़ता है। इसी प्रकार से यहाँ पर भी समझना चाहिए। ईश्वर अज्ञान की समष्टि को उपाधि के रूप में समझने के आधार पर कहा जा रहा है। इसी प्रकार प्राज्ञ अज्ञान की व्यष्टि को उपाधि के रूप में समझने के आधार पर कहा जा रहा है। वस्तुतः तो अज्ञान की समष्टि तथा व्यष्टि में कोई भेद तो है नहीं। इस कारण ईश्वर तथा प्राज्ञ में भी कोई भेद वास्तविक रूप में नहीं है। इन उपाधियों का परित्याग कर देने पर तो शुद्ध चैतन्य ही शिष्ट बचता है। उसी शुद्ध चैतन्य को तुरीय चैतन्य कहा जा रहा है। वही 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का लक्ष्यार्थ है। शुद्ध चैतन्य में कोई भेद नहीं है। उपाधियों का परित्याग कर देने पर ईश्वर तथा प्राज्ञ में कोई भेद नहीं रह जाता।

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम् ।आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तं 'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः। तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।' इति (हस्तामलकम् 10)।

व्याख्या : इस अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं। आवरण शक्ति यही है कि जैसे छोटा सा बादल का टुकड़ा अवलोकन करनेवाले की दृष्टि की मार्ग में अवरोध बनकर अनेक योजनों में विस्तृत सूर्यमण्डल आच्छादित सा कर दिया करता है, उसी प्रकार से अज्ञान परिच्छिन्न होता हुआ भी अवलोकन करनेवाले की दृष्टि की मार्ग में अवरोध बनकर अपरिच्छिन्न, असंसारी आत्मा को आच्छादित सा कर दिया करता है, यही सामर्थ्य है। जैसा कि कहा गया है कि बादल से दृष्टि के आवृत हो जाने पर जैसे अतिमूढ व्यक्ति बादल से सूर्य को ढँका हुआ तथा निष्प्रभ मान लेता है, उसी प्रकार से जो आत्मा मूढदृष्टि को बद्ध की तरह दिखता है, वही नित्योपलब्धिस्वरूप आत्मा मैं हूँ।

विशेष : अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं आवरण तथा विक्षेप। आवरण शक्ति का कार्य है आवरण करना। वस्तु के स्वरूप का आच्छादन करना। परन्तु अज्ञान परिच्छिन्न है, उस परिच्छिन्न अज्ञान में इतनी सामर्थ्य नहीं हो सकती है कि वह अपरिच्छिन्न, असीम असंसारी आत्मा को आच्छादित कर ले। आच्छादन वही कर सकता है जो आच्छाद्य से अधिक परिमाणवाला हो। परन्तु यहाँ आच्छाद्य है ब्रह्मन्, आत्मा, जो कि अपरिच्छिन्न है, असीम है। फिर किस प्रकार से अज्ञान के द्वारा अपरिच्छिन्न, असंसारी आत्म तत्त्व आवृत हो सकता है? तो इसका समाधान दिया गया कि जैसे बादल का एक छोटा सा टुकड़ा यदि हमारी दृष्टि के मार्ग में आ जाये तो हमको सूर्य नहीं दिखता। मूढ जन व्यवहार करने लगते हैं कि सूर्य बादल से ढँक गया, सूर्य निष्प्रभ हो गया। परन्तु सूर्य

न तो ढँकता है और न तो निष्प्रभ होता है। परन्तु हमें उस प्रकार का प्रतिभास अवश्य होता है। इसी प्रकार से मूढ़दृष्टि को अपरिच्छिन्न, असीम आत्म तत्त्व बद्ध की तरह प्रतिभासित होता है, यद्यपि वह बद्ध नहीं होता। उसका कभी भी आवरण नहीं होता है क्योंकि वह नित्य उपलब्धिस्वरूप है।

आवरणशक्ति प्रयुक्त कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि

अनया आवृतस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वादिसंसारसम्भावनापि भवति यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना।

व्याख्या : इस अज्ञान से आवृत आत्मा के ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि संसार की सम्भावना भी होती है। जैसे कि अपने अज्ञान से आवृत रज्जु में सर्पत्व की सम्भावना होती है।

विशेष : यद्यपि शुद्ध ब्रह्मन् न तो कर्ता है, न तो भोक्ता है, न उसका सुखित्व है और न तो दुःखित्व है। परन्तु हमारे व्यवहार में आत्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि प्रतीत होता है। यह किस प्रकार से सम्भव है? इसी को यहाँ पर स्पष्ट किया जा रहा है कि इस अज्ञान से आत्मा के आवृत हो जाने के कारण ही यह सब आत्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि सम्भव हो पाता है। वस्तुतः तो आत्मा आवृत नहीं होता है परन्तु केवल द्रष्टा की दृष्टि के आवृत होने के कारण उसके कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि की प्रतीति होती है। इसमें एक उदाहरण दिखाया गया कि जैसे जब हम रज्जु को नहीं जानते हैं तो तभी तक उस रज्जु में सर्पत्व की सम्भावना होती है। यदि रज्जु ज्ञात होती है तब उस रज्जु में सर्पत्व की भ्रान्ति नहीं होती। रज्जु में सर्पत्व की भ्रान्ति तभी तक होती है जब तक की रज्जु ज्ञात नहीं होती है। उसी प्रकार से तभी तक आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि की भ्रान्ति होती है जब तक कि आत्मा का स्वरूप ज्ञात नहीं होता।

विक्षेप शक्ति का कार्य

विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्या आकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्' विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् इति। (वाक्यसुधा 13)।

व्याख्या : विक्षेप शक्ति (इस प्रकार से समझी जानी चाहिए) जैसे रज्जु का अज्ञान उस अज्ञान से आवृत रज्जु में अपनी ही शक्ति से सर्पादि का उद्भावन कर दिया करता है, उसी प्रकार से अज्ञान भी अज्ञान से आवृत आत्मा में विक्षेप शक्ति के द्वारा आकाशादि प्रपंच का उद्भावन कर दिया करता है। ऐसा सामर्थ्य अज्ञान का है। जैसा कि कहा गया है कि विक्षेपशक्ति लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्त जगत् की सृष्टि करती है।

विशेष : रज्जु में प्रतिभासमान सर्प की तरह ही अद्वैतवेदान्त मत से समग्र संसार है। जिस प्रकार से रज्जु में प्रतिभासमान सर्प मिथ्या है, उसी प्रकार अद्वैतवेदान्त मत से समग्र जगत् मिथ्या है। इस कारण रज्जु में सर्प के भान की जो प्रक्रिया है उसी प्रकार की प्रक्रिया ब्रह्मन् में जगत् के भान की भी स्वीकार की जाती है। रज्जु में सर्प के प्रतिभास की क्या प्रक्रिया है? वहाँ पर रज्जु का अज्ञान रज्जु के स्वरूप का आवरण कर देता है, तथा विक्षेपशक्ति उसी रज्जु में सर्प का मिथ्या उद्भावन कर देती है, सर्प की प्रातिभासिक सृष्टि कर देती है। उसी प्रकार से ब्रह्म का अज्ञान ब्रह्म के स्वरूप का

आवरण कर देता है। अज्ञान की विक्षेप शक्ति लिङ्गशरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत् की सृष्टि कर देती है।

चैतन्य की अभिन्ननिमित्तोपादानता

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादनं च भवति।यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानञ्च भवति।

व्याख्या : दोनों शक्तियों से विशिष्ट अज्ञान से उपहित चैतन्य अपनी प्रधानता की अपेक्षा से निमित्त कारण होता है, तथा अपनी उपाधि की प्रधानता से उपादान कारण बनता है। जैसे मकड़ी तन्तुकार्य के प्रति अपनी प्रधानता से निमित्तकारण तथा अपने शरीर की प्रधानता की अपेक्षा उपादानकारण बनती है।

विशेष : अद्वैतवेदान्त के अनुसार केवल एक ही तत्त्व है जो है ब्रह्मन्। उसी ब्रह्मन् से इस समस्त वैचिर्त्यपूर्ण जगत् की उत्पत्ति उत्पत्ति हुई है। यदि एक ही तत्त्व है तो किस प्रकार से उत्पत्ति बन सकती है? इसका समाधान यहाँ पर दिया जाता है कि शक्तिद्वयविशिष्ट अज्ञान ही चैतन्य की उपाधि है। वही इस समस्त संसार का कारण है। जब उस चैतन्य के प्राधान्य की अपेक्षा से हम देखते हैं तो वह निमित्तकारण है। परन्तु जब हम उस चैतन्य के उपाधि की प्रधानता की अपेक्षा से विचार करते हैं तो वही चैतन्य उपादान कारण होता है। इस विषय में एक उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है जिसका उपयोग अद्वैतवेदान्ती बहुधा करते हैं। इस उदाहरण को उपनिषदों में भी प्रदर्शित किया गया है। वह दृष्टान्त है मकड़ी का। मकड़ी मरी हुई हो तो जाला नहीं बनाती। जाला बनाने के लिए उस मकड़ी का जीवित होना आवश्यक होता है। इसका आशय यह है कि जो चैतन्य है वह जाले के प्रति निमित्तकारण है, परन्तु जो मकड़ी का शरीर है वह जाले का उपादान कारण है।

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते' एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै. उ. 2/1/1) इत्यादिश्रुतेः।तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषुत्पद्यन्ते।एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते।एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते।

व्याख्या : तमः प्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश की, आकाश से वायु की, वायु से तेज की, तेज से जल की तथा जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है क्योंकि एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, इत्यादि श्रुतियों के द्वारा यही बताया गया है। इनमें जड़ता की अधिकता दिखती है, इस कारण उसके कारण में तम का प्राधान्य स्वीकार किया जाता है। उस समय सत्त्व, रजस् तथा तमस् इस कारणगुण के क्रम से उन आकाशादि में उत्पन्न होते हैं। इन्हीं को सूक्ष्म भूत, अपंचीकृत तन्मात्र भी कहा जाता है। इन्हीं से सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं।

विशेष : तम की जिसमें प्रधानता है ऐसा अज्ञान विक्षेप शक्ति से युक्त होता है। इसका कारण यह है कि तम का कार्य ही होता है आवरण करना। उस तमःप्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश की उत्पत्ति होती है, आकाश से वायु की, वायु से तेज की, तेज से जल की तथा जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। यही सृष्टि का क्रम है। सृष्टि का क्रम इसी रूप में इस कारण स्वीकार किया जाता है

क्योंकि श्रुति में इसी रीति से प्रतिपादन प्राप्त होता है। तम का प्राधान्य स्वीकार करने के पीछे भी युक्ति यह है कि इनमें आकाश से लेकर पृथिवी पर्यन्त पाँच भूतों में जड़ता की अधिकता दिखती है, सत्त्व की यदि प्रधानता होती तो जड़ता की अधिकता सम्भव नहीं थी क्योंकि सत्त्व गुण की विशेषता लघुता है, इसमें जड़ता नहीं आ सकती है। इसी प्रकार से रजोगुण की यदि प्रधानता स्वीकार की जाये तो भी सम्भव नहीं है क्योंकि रजोगुण की विशेषता क्रियाशीलता है। उसका प्राधान्य होने पर भी जड़ता नहीं आ सकती। इस कारण तमोगुण का प्राधान्य स्वीकार किया जाता है।

11.3 सारांश

रज्जु में सर्प का भ्रम होने के स्थल में जिस प्रकार से सर्प से भिन्न रज्जु में सर्प का आरोप होता है, उसी प्रकार से वस्तु में अवस्तु का आरोप होता है। वही वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप है। सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वय ब्रह्मन् ही वस्तु है। तथा अज्ञान से लेकर समस्त जड़ का समूह अवस्तु है। इसका आशय यह होता है कि सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वय ब्रह्मन् में अज्ञान से लेकर समस्त जड़ का समूह का आरोप होता है। यही अध्यारोप है। इस अध्यारोप का कारण है अज्ञान। अज्ञान न तो सत् है और न ही असत् है, किन्तु इन दोनों ही रूपों में अनिर्वचनीय है। सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण इन तीन गुणों से समन्वित होने के कारण अज्ञान त्रिगुणात्मक है। ज्ञान का विरोधी है परन्तु भावरूप है, अभावात्मक नहीं। इसके साथ ही अज्ञान भ्रान्ति का उपादान है। इसका अज्ञान को स्वीकार करने में दो प्रमाण हैं एक तो मैं अज्ञानी हूँ, इस प्रकार का अनुभव तथा दूसरा प्रमाण है देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढाम् इत्यादि श्रुतियाँ। व्यावहारिक रूप से इस अज्ञान में दो प्रकार से व्यवहार होता है अज्ञान की समष्टि तथा अज्ञान की व्यष्टि। अज्ञान की समष्टि तथा अज्ञान की व्यष्टि को उसी प्रकार से समझा जाता है जैसे कि वन तथा वृक्ष, जलाशय तथा जल। वन तथा वृक्ष में कोई पारमार्थिक भेद तो है नहीं, इसी प्रकार से जलाशय तथा जल में भी कोई पारमार्थिक भेद तो नहीं है। उसी प्रकार से अज्ञान की समष्टि तथा अज्ञान की व्यष्टि में भी कोई पारमार्थिक भेद नहीं है। केवल भिन्नतया व्यवहार होता है। अज्ञान की समष्टि में विशुद्धसत्त्व का प्राधान्य होता है क्योंकि अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, अव्यक्त, अन्तर्यामी होता है। सत्त्व का कार्य प्रकाशन करना है, तथा ईश्वर की उपाधि अज्ञान की समष्टि में विशुद्धसत्त्व का प्राधान्य होता है, इस कारण ईश्वर के समस्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वह सर्वज्ञ होता है। अज्ञान की समष्टि ही सबका कारण है, इस कारण उसको कारण शरीर कहते हैं, सबका उपरम उसी में होता है, इसी कारण उसको सुषुप्ति कहते हैं, तथा उसको स्थूल तथा सूक्ष्म प्रपंच का लयस्थान भी कहते हैं। वन को ही अनेक वृक्षों के रूप में भी समझा जाता है, जलाशय को ही जलों के समुदाय के रूप में समझा जाता है। इसी प्रकार जब हम अज्ञान को अनेक रूप में देखते हैं, तो इसी को अज्ञान की व्यष्टि कहा जाता है। जहाँ अज्ञान की समष्टि शुद्ध सत्त्व का प्राधान्य होता है वहीं अज्ञान की व्यष्टि में मलिन सत्त्व का प्राधान्य होता है। इसी कारण अज्ञान की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को प्राज्ञ कहते हैं। परन्तु यह अज्ञान की व्यष्टि भी अज्ञान की समष्टि की तरह कारण शरीर, आनन्दमय कोश, सुषुप्ति तथा समस्त स्थूल सूक्ष्म प्रपंच का लयस्थान कही जाती है। सुषुप्ति की अवस्था में ये दोनों ही ईश्वर तथा प्राज्ञ चैतन्य से दीप्त अतिसूक्ष्म अज्ञान की अतिसूक्ष्म वृत्तियों के द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं। इसमें भी श्रुति तथा अनुभव दोनों का प्रामाण्य है। सुषुप्ति के बाद उठने पर मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी नहीं जाना, ऐसा अनुभव होता है। तथा श्रुति भी है आनन्दभुक् चेतोमुखः

प्राज्ञः। इस अज्ञान की आवरण तथा विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं। आवरणशक्ति का कार्य है वस्तु के स्वरूप का आवरण करना, वस्तु के स्वरूप को ढँक लेना। वस्तु यहाँ पर वस्तु सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्मन् के स्वरूप का आवरण नहीं होता है किन्तु द्रष्टा की दृष्टि का आवरण उसी प्रकार से होता है जैसे छोटा सा भी बादल का टुकड़ा जब देखनेवाले की दृष्टि के मध्य में आ जाता है, तो सूर्य नहीं दिखता। विक्षेप शक्ति का कार्य है वस्तु के स्वरूप के आवृत हो जाने पर अवस्तु भूत आकाशादि प्रपंच का सृजन कर देना। इन दोनों शक्तियों से विशिष्ट अज्ञान से उपहित चैतन्य ही वस्तुतः समस्त सृष्टि का निमित्तकारण भी होता है तथा उपादानकारण भी होता है। जब हम चैतन्य की प्रधानता का ग्रहण करते हैं तो वह निमित्तकारण होता है और जब हम अज्ञान की प्रधानता का ग्रहण करते हैं तो वह उपादानकारण होता है। तमःप्रधान अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथिवी इस प्रकार से सूक्ष्म भूत उत्पन्न होते हैं जिनको अपञ्चीकृत कहते हैं, इन्हें ही तन्मात्र कहते हैं। इनसे सूक्ष्म शरीर इन्हें स्थूल भूत की उत्पत्ति होती है।

11.4 शब्दावली

अज्ञान, अपंचीकृत स्थूल भूत, समष्टि, व्यष्टि, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, आवरण शक्ति, विक्षेप शक्ति, निमित्तकारण, उपादानकारण, त्रिगुणात्मक।

11.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार विद्वन्मनोरंजिनी तथा हिन्दी व्याख्या सहित, बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
- सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार आपदेवकृत बालबोधिनी तथा बालव्युत्पत्तिवर्धिनी हिन्दी व्याख्या सहित, सच्चिदानन्द मिश्र, दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी।

11.6 अभ्यास प्रश्न

1. अज्ञान का क्या स्वरूप है? विवेचन कीजिए
2. अज्ञान की समष्टि तथा व्यष्टि से आप क्या समझते हैं? बताइए।
3. सृष्टि के प्रति चैतन्य किस प्रकार से निमित्तकारण तथा उपादानकारण; दोनों है?
4. अज्ञान की कौन सी शक्तियाँ हैं तथा उनके क्या कार्य हैं?
6. प्राज्ञ तथा ईश्वर में क्या भेद है? बताइए।

इकाई 12 सृष्टिप्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको अद्वैत वेदान्ती सृष्टिप्रक्रिया से परिचित कराना है। इस क्रम में आप :

- सूक्ष्म शरीर की अवधारणा से परिचित होंगे। ज्ञानेन्द्रियों से, कर्मेन्द्रियों से परिचित होंगे।
- अन्तःकरण के चार प्रभेदों की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- अन्नमय, प्राणमय, आनन्दमय, विज्ञानमय तथा मनोमय कोश इन पाँच कोशों का से परिचय प्राप्त करेंगे।
- पाँच प्रकार के प्राणों के विषय में जानेंगे।
- सूक्ष्म शरीर की अवधारणा तथा इसके समष्टि तथा व्यष्टि भेदों एवं पंचीकरण की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- इसी क्रम में स्थूल शरीर की उत्पत्ति की प्रक्रिया तथा स्थूल शरीर की व्यष्टि तथा समष्टि का सविस्तार विवेचन करेंगे।

12.1 प्रस्तावना

अद्वैत वेदान्त में सृष्टिप्रक्रिया का अपना विशेष महत्त्व है। यद्यपि अद्वैत वेदान्त के अनुसार एकमात्र तत्त्व ब्रह्मन् ही है। इस कारण सृष्टिप्रक्रिया का कोई भी औचित्य नहीं है क्योंकि यदि सृष्टिप्रक्रिया सच्ची है तो यह स्थापना खण्डित हो जाती है कि एकमात्र तत्त्व ब्रह्मन् ही है। इस कारण गौड़पाद ने माण्डूक्य कारिका में अपना अजातिवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। यह अजातिवाद का सिद्धान्त वस्तुतः अद्वैतवेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। आचार्य शंकर अजातिवाद की विवर्तवाद के रूप में व्याख्या करते हैं। विवर्तवाद का तात्पर्य इसमें है कि वस्तुतः परिणाम अवास्तविक है। इसलिए अद्वैतवेदान्त के अनुसार सृष्टिप्रक्रिया को बतलाने का उद्देश्य अध्यारोप तथा अपवाद के न्याय से इस सृष्टि के मिथ्यात्व को बतलाना ही है। इसी बात को समझाने के लिए अध्यारोपापवादन्याय शब्द का प्रयोग किया जाता है। एकमात्र तत्त्व ब्रह्मन् से समग्र सृष्टि की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, यह बता देने के बाद यह बताना आसान हो जाता

है कि चूंकि कारण से कार्य भिन्न नहीं होता, कारण को ही कार्य के रूप में एक अलग नाम से हम समझते हैं, वस्तुतः कार्य होने के कारण का मतलब एक नवीन नाम से उसका अभिधान किया जाना है, इस कारण परमार्थतः एकमात्र तत्त्व ब्रह्मन् ही है। इसी उद्देश्य से यहाँ पर सृष्टि की प्रक्रिया बतायी जा रही है।

12.2 सृष्टि प्रक्रिया – सूक्ष्म शरीराणि से आकाशवच्चैकमेव पर्यन्त (19-34)

सूक्ष्म शरीर : सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं चेति।

व्याख्या : सूक्ष्म शरीर ही लिङ्ग शरीर है, जिसके सत्रह अवयव हैं। ये सत्रह अवयव हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि तथा मन एवं पाँच प्राण।

विशेष : अद्वैतवेदान्त में सूक्ष्म शरीर की अवधारणा स्वीकार की जाती है। सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर कहने के दो आधार हैं। पहला आधार यह है कि इस सूक्ष्म शरीर को प्रत्यक्ष के द्वारा देखा नहीं जा सकता है। अपितु इस सूक्ष्म शरीर के घटकों का अनुमान किया जाता है। लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते यत् तत् लिंगम्, यह लिंग शब्द की एक व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार लिङ्ग वह है जो लिङ्गित हो, जिसका अनुमान किया जाये, जो अनुमान प्रमाण से ज्ञात हो। इन्द्रियाँ हमको प्रत्यक्ष से नहीं ज्ञात होती हैं। जिसको हम आँख कहते हैं वह हमारी चक्षुरिन्द्रिय नहीं है। बल्कि आँख चक्षुरिन्द्रिय का अधिष्ठान है। इसी प्रकार जिस चमड़ी को हम त्वगिन्द्रिय कहते हैं, वह वस्तुतः त्वगिन्द्रिय नहीं है, बल्कि वह त्वगिन्द्रिय का अधिष्ठान है। लिङ्ग शब्द का दूसरा अर्थ है 'लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते' येन तत् लिंगम्, जिससे अनुमान किया जाये उसको लिङ्ग कहते हैं। इस अर्थ के अनुसार यह अभिप्राय निकलता है कि जिसके द्वारा हम किसी अन्य का अनुमान करते हैं, उसको लिङ्ग कहा जायेगा। इसी आधार पर चूँकि अग्नि का अनुमान धूम के आधार पर किया जाता है, इस कारण धूम को हम अग्नि का लिङ्ग कहते हैं। इसी प्रकार की स्थिति यहाँ पर भी है। जिस प्रकार से हम इन इन्द्रियों का अनुमान करते हैं, उसी प्रकार इन्हीं इन्द्रियों के आधार पर हम जीवात्मा का भी अनुमान करते हैं। इस कारण इन इन्द्रियों, अन्तःकरण, कर्मेन्द्रियों तथा पाँच प्राणों को हम लिङ्ग कहते हैं, क्योंकि इनके आधार पर जीवात्मा का अनुमान किया जाता है। अनुमान का आकार यह है कि इन्द्रियाँ तथा प्राण आदि अपने से भिन्न, अपने में अनुगत चैतन्य के द्वारा रथादि की तरह। अधिष्ठित होकर प्रवृत्त होते हैं ऐसा अचेतन होने के कारण होता है। रथादि तब तक नहीं चलते हैं जब तक कि उन रथादि का अधिष्ठाता कोई चेतन नहीं होता है, उसी प्रकार से यह लिंग शरीर भी अचेतन होने के कारण तब तक प्रवृत्त नहीं हो सकता है जब तक कि उसको अधिष्ठित करनेवाला कोई चेतन न हो। इसी कारण इस सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर भी कहा जाता है। इस सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव हैं, सत्रह घटक हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, बुद्धि तथा मन। अवयव शब्द के दो अर्थ होते हैं एक तो समवायिकारण को अवयव कहा जाता है। न्याय वैशेषिक परम्परा में इसी अर्थ में अवयव शब्द का प्रयोग प्रमुख रूप से प्राप्त होता है। उदाहरण के रूप में घट का अवयव होता है कपाल तथा पट का अवयव होते हैं तन्तु। यहाँ पर यह ध्येय है कि घट तथा कपाल दोनों में अत्यन्त भेद होता है, दोनों अलग–अलग होते हैं। तन्तु तथा पट भी भिन्न–भिन्न होते हैं। उसी रीति से यहाँ पर भी इन सत्रहों को सूक्ष्म शरीर का

अवयव नहीं समझा जा सकता है क्योंकि सूक्ष्म शरीर इन सत्रह से पृथक् नहीं है। इस कारण यहाँ पर अवयव का अर्थ है घटक। इस अर्थ में अवयव शब्द का प्रयोग न्याय वैशेषिक परम्परा में भी प्राप्त होता है। जैसे न्यायवाक्य के घटक पाँच वाक्यों को पाँच अवयववाक्य कहा जाता है। इस कारण यहाँ पर यही अर्थ समझना चाहिए कि ये सत्रह सूक्ष्म शरीर के घटक हैं, सूक्ष्म शरीर इन सत्रह से अलग कुछ नहीं है।

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते।

व्याख्या : श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ये पाँचों ही ज्ञानेन्द्रियाँ आकाश आदि के सात्त्विक अंश से व्यस्तों से ही पृथक्–पृथक् क्रम से उत्पन्न होती हैं।

विशेष : ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशक होती हैं, इनके द्वारा विषय का प्रकाशन होता है। प्रकाशन करने का कार्य सत्त्व, रज तथा तम में से सत्त्व गुण का है। इस कारण यह स्वीकार किया जाता है कि ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी के पृथक्–पृथक् सात्त्विक अंश से क्रमशः उत्पन्न होती हैं। आगे पंचीकरण की प्रक्रिया प्रदर्शित की जायेगी। पंचीकरण की प्रक्रिया का आशय एक विशिष्ट क्रम में पाँचों भूतों के सम्मिलन से है। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी के पृथक्–पृथक् सात्त्विक अंश से क्रमशः उत्पन्न होती हैं, इस कथन का तात्पर्य यह है कि विना पंचीकरण हुए ही इन पाँचों भूतों के द्वारा क्रमशः इन ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। यानी इन पाँचों भूतों के किसी विशिष्ट क्रम में सम्मिलन की कोई आवश्यकता इन ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति के लिए नहीं होती है। बल्कि ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपंचीकृत पाँचों भूतों आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी के पृथक्–पृथक् सात्त्विक अंश से ही क्रमशः उत्पन्न होती हैं।

बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम सङ्कल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः। अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः चित्तम्। अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः अहंकारः। एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्।

व्याख्या : बुद्धि अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति है। तथा मन अन्तःकरण की संकल्पविकल्पात्मिका वृत्ति है। इन्हीं दोनों में ही चित्त तथा अहंकार का अन्तर्भाव हो जाता है। चित्त अन्तःकरण की अनुसन्धानात्मिका वृत्ति है। अहंकार अन्तःकरण की अभिमानात्मिका वृत्ति है। ये चारों ही आकाशादिगत मिलित सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं। चूँकि ये प्रकाशात्मक हैं, इस कारण इनको सात्त्विक अंश का कार्य माना जाता है।

विशेष : एक ही अन्तःकरण का भेद उसकी वृत्ति के भेद से हो जाता है। वृत्ति का तात्पर्य परिणामविशेष से है। एक विशेष प्रकार का परिणाम अन्तःकरण का होता है, उसी को कहते हैं अन्तःकरण की वृत्ति। इसको एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे एक ही व्यक्ति जिस समय दौड़ रहा होता है, उस समय उसको हम धावक कहते हैं, जिस समय वह भोजन पका रहा होता है, हम उसको पाचक कहते हैं। जिस समय वह देख रहा होता है हम उसको दर्शक कहते हैं। इस कारण वृत्ति के भेद से संज्ञा का भेद होता है। यहाँ पर इसको समझने के लिए एक अन्य उदाहरण भी लिया जा सकता है। एक ही जल कभी बुद्बुद कहा जाता है, कभी बरफ कहा जाता है,

कभी तरंग कहा जाता है। परन्तु है वह जल ही। उसी रीति से अन्तःकरण की वृत्ति को भी समझना चाहिए। एक ही अन्तःकरण में वृत्ति के भेद से अलग–अलग संज्ञाएँ हो जाती हैं।

कभी कभी हमको निश्चयात्मक ज्ञान होता है, इसी निश्चयात्मक ज्ञान को निश्चयात्मिका वृत्ति कहा जाता है। बुद्धि अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि निश्चयात्मिका वृत्ति के आधार पर ही अन्तःकरण की संज्ञा बुद्धि है। निश्चयात्मिका वृत्ति क्या है? यह ऐसा है, इस प्रकार की जो वृत्ति बनती है उसी को निश्चयात्मिका वृत्ति कहा जाता है। इस प्रकार की वृत्ति के आधार पर अन्तःकरण का एक नाम होता है बुद्धि। जब अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति बनती है, तब हम उसको बुद्धि कहते हैं।

मन क्या है? मन अन्तःकरण की संकल्पविकल्पात्मिका वृत्ति है। संकल्पविकल्पात्मिका वृत्ति ही मन कही जाती है। संकल्पविकल्पात्मिका वृत्ति का तात्पर्य उस प्रकार की वृत्ति से है जिसमें वस्तुस्वरूप का निश्चय नहीं हो पाता। कभी कभी हमें वस्तु के स्वरूप का निर्धारण नहीं हो पाता है। अनेक बार हम किंकर्तव्यविमूढ की स्थिति में होते हैं। संशय की स्थिति में होते हैं। संकल्प विकल्प कर रहे होते हैं। जिसमें विषय का विवेचन करने की अभिवृत्ति होती है, उसी को संकल्पविकल्पात्मिका वृत्ति कहते हैं। इसको दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जब अन्तःकरण की संशयात्मिका वृत्ति बनती है, तभी हम उसको मन कहते हैं, वही मन है। इस स्थिति में वही अन्तःकरण मन कहा जाता है।

सांख्य दर्शन में अन्तःकरण के चार भेद स्वीकार किये गये हैं मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। सांख्य–योग दर्शन में ही यह स्पष्ट किया गया है कि चिन्तनरूपा वृत्ति होने पर अन्तःकरण को चित्त कहा जाता है। इसी प्रकार से गर्व रूपा वृत्ति होने पर अन्तःकरण को अहंकार कहा जाता है। परन्तु यहाँ पर वेदान्तसार में अन्तःकरण के केवल दो भेद स्वीकार किये गये प्रतीत होते हैं क्योंकि यहाँ पर केवल मन तथा बुद्धि इन दोनों का ही परिग्रहण किया गया है। इसलिए इस सन्देह को मिटाने के लिए तथा वेदान्त के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए बताया गया कि इन्हीं दोनों में ही चित्त तथा अहंकार का भी अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु विचारणीय बात यह है कि किस प्रकार से इन दोनों चित्त तथा अहंकार का बुद्धि तथा मन में अन्तर्भाव सम्भव है? क्योंकि ऊपर यह बताया गया है कि निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि तथा संकल्पविकल्पात्मिका वृत्ति को मन कहते हैं। अब चित्त जिसको कि चिन्तनरूपा वृत्ति कहा गया है वह किस में अन्तर्भूत होगी? न तो वह निश्चयात्मिका वृत्ति ही प्रतीत होती है और न तो संकल्पविकल्पात्मिका वृत्ति ही प्रतीत होती है। फिर किसमें उसका अन्तर्भाव होगा? इसी प्रकार से अहंकारात्मिका वृत्ति का अन्तर्भाव किसमें होगा? इन दोनों ही प्रश्नों का समाधान विद्वन्मनोरंजिनी व्याख्या के लेखक रामतीर्थ यति इस प्रकार से देते हैं कि चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि बुद्धि तथा चित्त इन दोनों में ही विषयपरिच्छेदकता समान रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार से अहंकार का मन में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि संकल्पात्मकता समान रूप से विद्यमान है। इस प्रकार से स्वरूपतः बुद्धि तथा चित्त और मन तथा अहंकार में कोई भेद नहीं है। परन्तु विषय के भेद से भेद भी होता है। इन दोनों में इस प्रकार से भेद किया जा सकता है कि बुद्धि का विषय अपूर्व होता है, पूर्व से ज्ञात विषय बुद्धि का विषय नहीं होता है। परन्तु इसके विपरीत चित्त का विषय पूर्व से ज्ञात ही होता है क्योंकि अनुसन्धानात्मिका वृत्ति है चित्त। अन्तःकरण की वह वृत्ति चित्त कहलाती है जिसमें

वस्तु पूर्व से ज्ञात हो, तथा उसका स्मरण किया जा रहा हो। इसी प्रकार से मन का विषय बाह्य तथा आन्तर दोनों ही होता है, बाह्य विषय के बारे में भी सन्देह हो सकता है तथा आन्तर विषय के बारे में भी। परन्तु अहंकारात्मिका वृत्ति तो केवल आन्तर विषय के बारे में बनती है।

जिस प्रकार से ज्ञानेन्द्रियाँ विषय का प्रकाश करती हैं उसी प्रकार से अन्तःकरण भी विषय का प्रकाश करता है। इस कारण अन्तःकरण को भी ज्ञानेन्द्रियों की तरह सात्त्विक अंश का कार्य मानना चाहिए। परन्तु अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियों इन दोनों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। ज्ञानेन्द्रियाँ केवल एक–एक विषय का ही प्रकाशन करती हैं। उदाहरण के रूप में घ्राणेन्द्रिय की सामर्थ्य केवल गन्ध का प्रकाश करने में है, श्रोत्रेन्द्रिय का सामर्थ्य केवल शब्द का प्रकाशन करने में है। इसी प्रकार से अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय में भी देखा जा सकता है। इसके विपरीत अन्तःकरण की सामर्थ्य व्यापक है, अन्तःकरण सभी विषयों को जान सकता है। इस कारण अन्तःकरण के विषय में यह बताया गया कि ये अन्तःकरण (चतुष्टय) आकाश आदि पाँचों के मिलित सात्त्विक अंश से उत्पन्न होते हैं।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बहुत सारे स्थलों पर अद्वैतवेदान्त में अन्तःकरण को तैजस बताया गया है। अब यदि अन्तःकरण इन पाँचों ही भूतों के सात्त्विक अंश के मिलित रूप से उत्पन्न हुआ है, इस अन्तःकरण को तैजस किस प्रकार से कहा जा सकता है? इस प्रश्न का समाधान यह प्रस्तुत किया जाता है कि अन्तःकरण को तैजस बताने का तात्पर्य मात्र इतना है कि यद्यपि अन्तःकरण पाँचों ही भूतों के द्वारा आरब्ध है, तथापि उसमें तेज का बाहुल्य है, तेज की अधिकता है। इसी कारण अनेक स्थलों पर अन्तःकरण को तैजस बताया गया है।

विज्ञानमयकोश –

इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। अयं
कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यवहारिको जीव इत्युच्यते।

व्याख्या : यह बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों से सहित विज्ञानमय कोश होती है। यही विज्ञानमय कोश कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि का अभिमानी होने के कारण इहलोकगामी तथा परलोकगामी होता हुआ व्यावहारिक जीव कहा जाता है।

विशेष : अद्वैतवेदान्त में पाँच कोशों की अवधारणा प्राप्त होती है। इनको कोश कहने का विशेष प्रयोजन है, ये कोश की तरह आवरण करते हैं, परम तत्त्व ब्रह्मन् इनके कारण ही आवृत हो जाता है। इसके लिए यहाँ पर एक उदाहरण दिया जाता है कि जिस प्रकार से म्यान तलवार को छुपा लेती है, उसी प्रकार से ये कोश भी आत्म तत्त्व को आवृत कर देते हैं। इनमें सबसे स्थूल है अन्नमय कोश, उसकी अपेक्षा सूक्ष्मतर हैं प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश। इनमें एक क्रमबद्धता है। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम की ओर एक गति है। यद्यपि इन कोशों को इस क्रम से यहाँ पर बताया नहीं गया है, बल्कि विपरीत क्रम से बताया गया है। प्रसंगानुसार सबसे पहले आनन्दमय कोश को बताया जा चुका है। अभी विज्ञानमय कोश को यहाँ बता रहे हैं। ज्ञानेन्द्रियों से सहित बुद्धि विज्ञानमय कोश होती है। यहाँ पर पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि इस प्रकार से इन छह का नाम है विज्ञानमय कोश। इसी विज्ञानमय कोश व्यावहारिक जीव कहा जाता है। व्यावहारिक जीव कहने का तात्पर्य यह है कि परमार्थतः तो ब्रह्मन् ही आत्मा है। ब्रह्मन् तथा आत्मा में कोई

भेद ही नहीं है। जीवो ब्रह्मैव नापरः ये तो वेदान्त का सुप्रसिद्ध उद्घोष है। इस कारण विज्ञानमय कोश को व्यावहारिक जीव कहा गया। विज्ञानमय कोश को व्यावहारिक जीव कहा कहने का तात्पर्य वस्तुतः यह है कि विज्ञानमय कोश से अवच्छिन्न जो चिदात्मा है वही व्यावहारिक जीव है। व्यावहारिक जीव कहने का तात्पर्य यह भी है कि व्यवहार में इसी को जीव कहा जाता है। हमारे समस्त व्यवहार इसी को जीव मानकर होते हैं। व्यवहार क्या होते हैं इसको भी ग्रन्थकार ने स्वयं ही स्पष्ट रूप में बताया कि कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि का अभिमानी यही विज्ञानमय कोश है। अधिक स्पष्टता से कहा जाये तो चिदात्मा के विज्ञानमय कोश से अवच्छिन्न होने के कारण ये सारे व्यवहार होते हैं। कर्तृत्व वस्तुतः चिदात्मा में नहीं है, परन्तु चिदात्मा के न होने पर कर्तृत्व हो नहीं सकता। जिस प्रकार से सारथी के न रहने पर रथ नहीं चल पाता है उसी प्रकार से अधिष्ठाता के न होने पर विज्ञानमय कोश का कर्तृत्व नहीं हो सकता है। इसी प्रकार से भोक्तृत्व भी वस्तुतः है तो विज्ञानमय कोश का ही। परन्तु बिना विज्ञानमय कोश से अवच्छिन्न चिदात्मा के वह भोक्तृत्व सम्भव नहीं है। सुखी होना, दुःखी होना आदि भी वस्तुतः हैं तो विज्ञानमय कोश के ही धर्म परन्तु विना विज्ञानमय कोश से अवच्छिन्न चिदात्मा के यह सब भी सम्भव नहीं हैं। यह कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि का सारा अभिमान विज्ञानमय कोश में ही होता है। इस कारण विज्ञानमय कोश ही इहलोकगामी है तथा परलोकगामी भी वही है। लोक में जीव के रूप में व्यवहार किसका होता है? उसी का जीव रूप में व्यवहार होता है जिसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि का अभिमान हो। इसी कारण विज्ञानमय कोश व्यावहारिक जीव कहा जा रहा है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि विज्ञानमय कोश के छह घटक हैं; बुद्धि तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ।

वस्तुतः यह ध्यान रखना चाहिए कि विज्ञानमय कोश को व्यावहारिक जीव नहीं माना जाता है किन्तु विज्ञानमय कोश को व्यावहारिक जीव कहने का आशय लिङ्गशरीर से उपहित चैतन्य का ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि स्वीकार करते हुए उसी को ही व्यावहारिक जीव माना जाता है। विज्ञानमय कोश का कर्तृत्व तो कथमपि सम्भव नहीं है क्योंकि इसके घटक तो केवल ज्ञानेन्द्रियाँ तथा बुद्धि हैं, और इनमें से किसी का भी कर्तृत्व नहीं बन सकता है। बिना कर्मेन्द्रियों के किस प्रकार से कर्तृत्व बन सकेगा? कर्मेन्द्रियों के वगैर तो कुछ भी नहीं किया जा सकता है। इस कारण व्यावहारिक जीव लिङ्ग शरीर से उपहित चैतन्य को ही स्वीकार किया जाता है।

मनोमय कोश –

मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।

व्याख्या : ज्ञानेन्द्रियों से सहित मन तो मनोमय कोश होता है।

विशेष : विज्ञानमय कोश से मनोमय कोश का भेद बहुत ही सूक्ष्म है। जहाँ ज्ञानेन्द्रियों से सहित बुद्धि विज्ञानमय कोश होता है, वहीं बुद्धि के स्थान पर मन को स्थापित कर दिया जाये तो ज्ञानेन्द्रियों से सहित मन को मनोमय कोश कहा जायेगा। यह प्रश्न किया जा सकता है कि विज्ञानमय कोश को ही व्यावहारिक जीव क्यों माना जा रहा है? क्या मनोमय कोश को व्यावहारिक जीव नहीं माना जा सकता है? तो इसका समाधान इस प्रकार से दिया जा सकता है कि कर्तृत्व के लिए निश्चयात्मिका वृत्ति की अपेक्षा होती है, मनोमय कोश में मन अन्तर्भूत है, जिसका कार्य केवल संकल्प विकल्प करना है। संदेहात्मिका वृत्ति के कारण इसको मन कहा जाता है। इस कारण मनोमय कोश में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि का अभिमान सम्भव नहीं है। अतः

मनोमय कोश को व्यावहारिक जीव न बताकर विज्ञानमय कोश को व्यावहारिक जीव कहा गया है।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ –

कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। एतानि पुनराकाशादीनां रजोंशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यते।

व्याख्या : वाणी, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (मलेन्द्रिय), उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये कर्मेन्द्रियाँ आकाश आदि के अलग–अलग रजोंश से क्रमशः अलग–अलग उत्पन्न होती हैं।

विशेष : यहाँ पर भी पूर्ववत् ही बताया जा रहा है। वाणी आकाश का विकार है। पाणि वायु का विकार है। पाद अग्नि का विकार है। पायु जल का विकार है तथा उपस्थ पृथिवी का विकार है। इसमें यह भी स्मरणीय है कि आकाश आदि पाँचों भूतों के रजोंश से ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

पाँच प्राण –

वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः। समीकरणन्तु परिपाककरणं रसरुधिरशुक्रपुरीषादिकरणमिति यावत्।

व्याख्या : वायु हैं प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान ये पाँच। प्राण वायु नासिका के अग्रस्थान पर रहनेवाली प्राग् गमनवान् है। अपान वायु पायु आदि स्थानों में रहनेवाली अवाग् गमनवान् है। व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त करके रहनेवाली विष्वग्गमनवान् है। उदान वायु कण्ठ स्थान में रहनेवाली ऊर्ध्व गमनवान् उत्क्रमण वायु है। समान वायु शरीरमध्यगत खाये पिये गये अन्न आदि का समीकरण करनेवाली वायु है। समीकरण का अर्थ है परिपाक करना, खाये पिये हुए का रस, रुधिर, शुक्र, पुरीष आदि के रूप में परिवर्तित करना।

विशेष : पाँच प्राण की स्वीकृति यहाँ पर प्राप्त होती है। वस्तुतः तो प्राण एक ही है। परन्तु स्थान के भेद से उसी प्राण वायु का नाम भिन्न–भिन्न हो जाता है। एक ही प्राण वायु नासिका देश में स्थित होने पर प्राण कहलाती है, तो वही वायु मलेन्द्रिय देश में स्थित होने पर अपान वायु कही जाती है। व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहने वाली है। उदान वायु वह है जो कण्ठ देश में स्थित होती है। इसी उदान वायु के प्रकोप से वान्ति (उलटी) की समस्या होती है। समान वायु का कार्य खाये पिये हुए का परिपाक करना तथा उनको रस, रक्त आदि के रूप में परिवर्तित करना।

मतान्तर से पाँच अन्य प्राण वायु –

केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः। एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चौवेति केचित्।

व्याख्या : कुछ लोग तो कहते हैं कि इन पाँच वायुवों से अतिरिक्त नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय नाम के पाँच वायु और हैं। उनमें से नाग वायु उद्गिरणकर है। कूर्म वायु उन्मीलनकर है। कृकल वायु क्षुधाकर है। देवदत्त वायु जृम्भणकर है। धनंजय वायु पोषण करनेवाली है। इन सभी पाँचों वायुवों का प्राणादि में ही अन्तर्भाव हो जाता है, इस कारण पाँच ही वायु हैं ऐसा कुछ दूसरे लोग कहते हैं।

विशेष : किन्हीं अन्य आचार्यों के मत से पाँच अन्य वायुवों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उसी को यहाँ पर उद्धृत किया गया है। प्राणादि पाँच वायुवों से भिन्न पाँच वायु हैं नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय। परन्तु सिद्धान्त यही है कि इनको प्राणादि से भिन्न नहीं स्वीकार करना। इसीलिए बहुत ही सरसरी तौर पर इनका प्रसंग उपस्थापित किया गया है।

पाँच प्राणों की आकाशादि के मिलित रजोंश से उत्पत्ति –
एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते।

व्याख्या : ये प्राणादि पाँच वायु आकाशादिगत रजोंश के मिलित रूप से उत्पन्न होते हैं।

विशेष : प्राणादि पाँच वायु के प्रकार हैं इस कारण प्रतीत होता है कि इनको वायु ही होना चाहिए। परन्तु सिद्धान्त ऐसा नहीं है। सिद्धान्त इस रूप में स्थापित होता है कि ये पाँच प्राण पाँचों ही भूतों के मिलित रूप से उत्पन्न होते हैं। तथा उसमें इतना और ध्येय है कि ये आकाशादि पाँच भूतों के रजोंश के मिलन से उत्पन्न होते हैं। इस कारण प्राणादि पाँच वायुवों का केवल वायुकार्यत्व नहीं है। रजोगुण की विशिष्टता है क्रियाशीलता। इसी कारण प्राणादि पाँच वायुवों की उत्पत्ति आकाशादि के रजोंश से स्वीकार की गयी है क्योंकि रजोंश का कार्य क्रियाशीलता है।

प्राणमय कोश

इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियामकत्वेन रजोंशकार्यत्वम्।

व्याख्या : ये प्राणादि पाँच वायु कर्मेन्द्रियों से सहित होते हुए प्राणमय कोश होते हैं। इस प्राणमय कोश के क्रियात्मक होने के कारण रजोंशकार्यता है।

विशेष : प्राणमय कोश के घटक दस होते हैं – पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण। इन सभी की उत्पत्ति आकाशादि के रजोंश से होती है। इसी कारण प्राणमय कोश पूरा का पूरा क्रियाशीलता से जुड़ा है। ये इन्द्रियाँ भी कर्मेन्द्रियाँ हैं, इनके द्वारा हम विभिन्न कार्य करते हैं, तथा प्राणादि पाँच वायुवों के द्वारा भी विभिन्न कार्य ही किये जाते हैं।

अतः कोशत्रय का मिलित रूप ही सूक्ष्म शरीर

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते।

व्याख्या : इन कोशों में विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूप है। मनोमय कोश इच्छाशक्तिमान् करणरूप है। प्राणमय कोश क्रियाशक्तिमान् कार्यरूप है। योग्य होने के

कारण इनका इस प्रकार से विभाग है, ऐसा वर्णन करते हैं। ये तीनों ही कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं।

विशेष : आनन्दमय कोश तथा अन्नमय कोश इन दोनों कोशों को छोड़ दिया जाये तो तीन कोश शेष बचते हैं, इन तीनों कोशों को एक साथ जोड़ लें तो यही सूक्ष्म शरीर है। अन्नमय कोश तो स्थूल शरीर है तथा आनन्दमय कोश साक्षी है। साक्षी का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व नहीं होता, इसी प्रकार से स्थूल शरीर का भी ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व नहीं होता। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व ये तीनों ही सूक्ष्म शरीर के धर्म हैं। परन्तु केवल ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व से काम नहीं चलनेवाला है। इसके अतिरिक्त करणत्व भी मानना पड़ेगा। वह करणत्व मनोमय कोश का होता है। इसी रीति से प्राणमय कोश का धर्म है क्रियाशक्ति। यह क्रियाशक्ति कार्यरूप है। यद्यपि सूक्ष्म शरीर मिलकर ही कार्यकारी होता है, उसके द्वारा जो भी किया जाता है, वह मिलकर ही किया जाता है। इस कारण विज्ञानमय कोश का ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व होता है, मनोमय कोश का करणत्व होता है, तथा प्राणमय कोश की क्रियाशक्तिमत्ता होती है, इस प्रकार से कहना एकदम से सही नहीं है। तथापि इनमें ही योग्यता है, विज्ञानमय कोश में ही ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व की योग्यता है, अन्य में नहीं क्योंकि उनमें ज्ञातृत्व आदि उपपन्न ही नहीं हो सकते। इसी प्रकार से मनोमय कोश में ही करणत्व की योग्यता है, अन्य में नहीं। इसी प्रकार से प्राणमय कोश में ही क्रियाशक्तिमता है, अन्य में नहीं। इसी कारण इस प्रकार से विभाग किया गया है।

सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि तथा समष्टि तथा उससे उपहित चैतन्य सूत्रात्मा एवं तैजस् का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है –

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वात् ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च।अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्। अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते।

एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः 'प्रविविक्तभुक् तैजसः '(माण्डू. उ. 3) इत्यदिश्रुतेः।

अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गत–प्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः।एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः।

व्याख्या : यहाँ पर भी समस्त सूक्ष्म शरीर एक इस प्रकार की बुद्धि का विषय होने के कारण वन की तरह तथा जलाशय की तरह समष्टि के रूप में एक माना जाता है। इसी प्रकार से अनेक बुद्धि का विषय होने के कारण वृक्ष तथा जल की तरह व्यष्टि भी होता है। इस सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य सर्वत्र अनुस्यूत होने के कारण सूत्रात्मा, तथा इस सूक्ष्म शरीर की समष्टिरूप उपाधि के ज्ञानेच्छामान् होने के कारण तथा क्रियाशक्तिमान् होने के कारण क्रमशः हिरण्यगर्भ तथा प्राण भी कहा जाता है। सूक्ष्म शरीरों की यह समष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर कही जाती है। विज्ञानमय कोश आदि कोशत्रय कहा जाता है। जाग्रद्वासनामय होने के

कारण स्वप्न भी कहा जाता है। इसी कारण स्थूल प्रपंच का लयस्थान भी कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य तैजस होता है क्योंकि वह तेजोमय अन्तःकरण से उपहित है। इसकी भी व्यष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर कहलाती है, विज्ञानमय आदि तीन कोश कहलाते हैं। जाग्रद्वासनामय होने के कारण स्वप्न भी कहा जाता है। इसी कारण स्थूल प्रपंच का लयस्थान कहा जाता है। ये दोनों सूत्रात्मा तथा तैजस स्वप्नकाल में मन की वृत्तियों के द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं। इसके समर्थन में श्रुति प्राप्त होती है कि 'प्रविविक्तभुक् तैजसः', वह तैजस प्रविविक्त का भोग करनेवाला है। यहाँ पर भी सूक्ष्म शरीर की समष्टि तथा सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि में एवं सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य तथा सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य में उसी प्रकार से अभेद है जैसे वन तथा वृक्ष में अभेद है और वन तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश में अभेद है। या जिस प्रकार से जलाशय तथा जल में अभेद है तथा जिस प्रकार से जलाशय तथा जल में प्रतिबिम्बित चैतन्य में अभेद है।

विशेष : यहाँ पर हर जगह पर वन तथा वृक्ष अथवा जलाशय तथा जल को समष्टि तथा व्यष्टि को पहले जिस प्रकार से अज्ञान की समष्टि तथा व्यष्टि के द्वैविध्य का व्यवहार से उपपादन तथा उनके अभेद का उपपादन किया था, उसी प्रकार से यहाँ पर सूक्ष्म शरीर की समष्टि तथा व्यष्टि के द्वैविध्य का व्यवहार से उपपादन कर रहे हैं, तथा सूक्ष्म शरीर की समष्टि तथा व्यष्टि के अभेद का भी उपपादन कर रहे हैं। सूक्ष्म शरीरों की समष्टि को एक साथ ले लिया जाये तो उस सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य हर जगह अनुस्यूत है, इसी कारण उसको सूत्रात्मा कहा जाता है। उसी सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि को लिया जाये तो उस व्यष्टि से उपहित चैतन्य तैजस कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर के सत्रह घटक हैं, सत्रह अवयवों से मिलकर यह बनता है। इसमें विज्ञानमय कोश भी है, जो ज्ञानवान् है, इसमें मनोमय कोश भी है जो कि इच्छावान् है, तथा प्राणमय कोश भी है जो क्रियाशक्तिमान् है। ज्ञान से इच्छा होती है, इच्छा से क्रिया होती है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर में ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया इन तीनों का समवधान है। सूक्ष्म शरीर की समष्टि में भी तथा सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि में भी इन तीनों की विद्यमानता है। कर्ता उसी को कहते हैं जिसमें ज्ञान, इच्छा तथा कृति ये तीनों हों। इस सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य के लिए तीन शब्दों का प्रयोग होता है; सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ तथा प्राण। सूत्रात्मा इस कारण कि सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य सर्वत्र अनुस्यूत है। हिरण्यगर्भ इस कारण कि वह ज्ञानशक्तिमान् है तथा इच्छाशक्तिमान् है। प्राण इसलिए कि वह क्रियाशक्तिमान् है। सूक्ष्म शरीर की यह समष्टि स्थूल प्रपंच की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर कहलाती है तथा जाग्रद्वासनामय होने के कारण स्वप्नमय तथा स्थूल प्रपंच का लयस्थान है। स्वप्न में स्थूल प्रपंच का लय हो जाता है।

इसके विपरीत इस सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को तैजस कहा जाता है। तैजस की भूमिका सूत्रात्मा के समान है। बस इन दोनों में भेद केवल समष्टि तथा व्यष्टि द्वारा उपहित होने का है। इसको तैजस कहने का आधार केवल इतना है कि यह चैतन्य तेजोमय अन्तःकरण से उपहित है। सूक्ष्म शरीर की समष्टि की तरह सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि भी स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर कही जाती है तथा जाग्रद्वासनामय होने के कारण स्वप्न है तथा स्थूल शरीर के लय का स्थान है।

इन दोनों में सूत्रात्मा तथा तैजस में यह भी साम्य है कि स्वप्न की अवस्था में ये दोनों ही मन की वृत्तियों से सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं। स्वप्न की अवस्था में इन्द्रियों के द्वारा कार्य नहीं किया जाता है, इस कारण ये दोनों उस समय मन की वृत्तियों से सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते हैं।

इसके साथ ही साथ यह भी ध्येय है कि सूक्ष्म शरीर की समष्टि तथा व्यष्टि में वस्तुतः पारमार्थिक रूप से कोई भेद नहीं होता है। ठीक उसी प्रकार से जैसे वन तथा वृक्ष में अथवा जलाशय तथा जल में कोई भेद नहीं होता। जब उपाधि में भेद नहीं है तो इन उपाधियों से उपहित चैतन्य में भी किस प्रकार से भेद हो सकता है? उनमें भी पारमार्थिक रूप से कोई भेद उसी प्रकार से नहीं होता जैसे वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश में कोई भेद नहीं होता। अथवा जैसे जलाशय में पड़नेवाले आकाश–प्रतिबिम्ब तथा जल में पड़ने वाले आकाश–प्रतिबिम्ब में कोई भेद नहीं होता।

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि। पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु योजनम्।तदुक्तम्

> षडिवधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
> स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्चते। इति।

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्। पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (ब्र. सू. 2/4/22) इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति। तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च। एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि–विद्यमानानामतलवितलसुतल–रसातलतलातलमहातलपातालनामकानामधोऽधोविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्गतचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनां चोत्पत्तिर्भवति।।

व्याख्या : स्थूल भूत तो पंचीकृत हैं। पंचीकरण तो आकाश आदि पाँचों को एक–एक कर दो–दो भागों में विभक्त कर, उन दस भागों में से प्राथमिक पाँच भागों को प्रत्येक को चार भागों में समान रूप से विभाग कर उन चारों भागों को अपने–अपने द्वितीय आधे हिस्से को छोड़कर बाकी सभी में जोड़ देना है। जैसा कि कहा गया है कि एक–एक को दो–दो भागों में विभक्त कर फिर एक–एक को चार भागों में बाँट कर अपने–अपने से भिन्न द्वितीय अर्धांश से योजन करने से अपंचीकृत भूत पंचीकृत हो जाते हैं। इन्हीं पंचीकृत भूतों से ही ऊपर ऊपर विद्यमान भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनोलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक इन सात लोकों की, नीचे–नीचे विद्यमान अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल इन सात लोकों की, ब्रह्माण्ड की तथा उस ब्रह्माण्डान्तर्वर्ति चार प्रकार के स्थूल शरीरों की तथा उससे उपचित अन्नपानादि की उत्पत्ति होती है।

यह पंचीकरण की प्रक्रिया किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है ऐसी आशंका तो नहीं करनी चाहिए क्योंकि त्रिवृत्करण श्रुति पंचीकरण की भी उपलक्षण है। पाँचों का ही पंचात्मकत्व समान होने पर भी उनमें भी वैशेष्य के कारण तत्तद्वाद है, इस न्याय से आकाश आदि व्यवपदेश सम्भव है। पंचीकरण हो जाने पर आकाश में शब्द अभिव्यक्त

होता है, वायु में शब्द एवं स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध अभिव्यक्त होते हैं।

विशेष : सूक्ष्म भूत तथा स्थूल भूत में मुख्य अन्तर यह है कि सूक्ष्म भूत अपंचीकृत होते हैं, इसके विपरीत स्थूल भूत पंचीकृत होते हैं। पंचीकरण का तात्पर्य है इन पाँचों का परस्पर एक दूसरे में मेलन। यह मेलन भी एक विशेष अनुपात तथा प्रक्रिया से होता है। आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी इन सबमें प्रत्येक में दो भाग कर लिये गये। अर्धांश में पुनः चार भाग कर लिये गये। तथा इन चारों अंशों को एक–एक कर अन्य चारों में जोड़ दिया गया। उदाहरण के रूप में पृथिवी के दो अंश कर लिये गये, आधा अंश किनारे रख लिया गया। द्वितीय आधे अंश में चार बराबर भाग कर लिये गये। तथा उनको क्रमशः जल, तेज, वायु तथा आकाश में जोड़ दिया गया। इस प्रकार से पृथिवी का आठवाँ अंश जल, तेज, वायु तथा आकाश में जुड़ गया। इस क्रम में पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश में इन पाँचों ही भूतों में आधा अंश तो अपना है परन्तु आठवाँ अंश अन्य चारों का है। इसी को पंचीकरण प्रक्रिया कहते हैं।

पंचीकरण की यह प्रक्रिया प्रत्यक्ष से तो सिद्ध नहीं होती है, तो किस कारण से इसको स्वीकार करना? तो इसका उत्तर ग्रन्थकार ने दिया कि श्रुति में त्रिवृत्करण का श्रवण प्राप्त होता है, वह त्रिवृत्करण पंचीकरण का भी उपलक्षण है। पाँचों ही भूतों में अन्य चार भूतों का अंश होने पर अपना अंश आधा है तथा अन्य का केवल अष्टमांश ही है, इस कारण पृथिवी आदि में जलादि अन्य चारों का अंश मिला होने पर भी उनका क्रमशः पृथिवी आदि शब्दों से अभिधान किया जाता है। पंचीकरण की प्रक्रिया के कारण ही आकाश में केवल शब्द अभिव्यक्त होता है, वायु में शब्द एवं स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध अभिव्यक्त होते हैं। इसके विपरीत क्रम में नहीं होता है क्योंकि आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल तथा जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है, तथा कारण के गुण कार्य में संक्रान्त हो सकते हैं। परन्तु कार्य के गुण कारण में संक्रान्त नहीं होते हैं। इन्हीं पंचीकृत पंच महाभूतों से समस्त लोकों की, ब्रह्माण्ड की, ब्रह्माण्डान्तर्वर्ती चार प्रकार के शरीरों की तथा उन शरीरों से उपचित अन्नपान आदि की उत्पत्ति होती है। चार प्रकार का शरीर आगे इस प्रकार वर्णित है –

चतुर्विध शरीर : चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकमशकादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि लतावृक्षादीनि।

व्याख्या : चार प्रकार से शरीर तो जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज हैं। जरायु से उत्पन्न जरायुज हैं मनुष्य, पशु आदि। अण्डे से उत्पन्न हैं अण्डज पक्षी, साँप आदि। स्वेदज हैं स्वेद से उत्पन्न जुएँ, मशक आदि। उद्भिज्ज हैं भूमि को फोड़कर उत्पन्न होनेवाले लता, वृक्ष आदि। स्थूल शरीर की समष्टि तथा उनसे उपहित चैतन्य वैश्वानर या विराट् के विषय में कहा गया है –

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिर्वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति।एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च।

व्याख्या : यहाँ पर भी चारों प्रकार के स्थूल शरीर एक तथा अनेक बुद्धि के विषय होने के कारण वन या जलाशय की तरह समष्टि तथा वृक्ष या जल की तरह व्यष्टि भी होते हैं। इस स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य समस्त नरों का अभिमानी होने के कारण वैश्वानर, तथा विविध रूपों में राजमान होने के कारण विराट् कहा जाता है।

विशेष : ऊपर चार प्रकार के शरीरों के विषय में बताया गया। जिस प्रकार से अज्ञान की समष्टि तथा व्यष्टि का अभेद होता है, सूक्ष्म शरीर की समष्टि तथा व्यष्टि का अभेद होता है, उसी प्रकार से यहाँ स्थूल शरीर की समष्टि तथा व्यष्टि के विषय में भी समझना चाहिए। ऊपर जो चार प्रकार के स्थूल शरीर बताये गये, उन स्थूल शरीरों की समष्टि एक है इस प्रकार की बुद्धि का विषय होने के कारण वन या जलाशय की तरह समष्टि होती है। वृक्ष तथा जल की तरह ही व्यष्टि होती है। स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य समस्त नरों का अभिमानी होने के कारण वैश्वानर कहलाता है। वही अनेक रूपों में विराजमान होता है, इस कारण उसको विराट् कहा जाता है। उसकी समष्टि स्थूल शरीर अन्न का विकार होने के कारण अन्नमय कोश कहा जाता है, स्थूल भोग का आयतन होने के कारण स्थूल शरीर तथा जाग्रत भी कहा जाता है। इसकी व्यष्टि से उपहित चैतन्य विश्व कहा जाता है। इसको विश्व कहने का आधार यह है कि यह सूक्ष्म शरीर का अभिमान छोड़े विना ही स्थूल शरीर में प्रविष्ट होता है।

अन्नमय कोश, स्थूल शरीर की व्यष्टि तथा उनसे उपहित चैतन्य विश्व का स्वरूप शास्त्रों में इस प्रकार प्रतिपादित है –

अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वाद् अन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते। एतद्व्यष्ट्युपहितं चौतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्। अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते। तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरेन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतः 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः' (माण्डू. उ. 3) इत्यादिश्रुतेः।

व्याख्या : इसकी समष्टि जो कि स्थूल शरीर है, अन्नविकार होने के कारण अन्नमय कोश है, स्थूल भोग का आयतन होने के कारण स्थूल शरीर तथा जाग्रत भी कहा जाता है। इसकी व्यष्टि से उपहित चैतन्य विश्व कहा जाता है क्योंकि वह सूक्ष्म शरीर का अभिमान छोड़े विना ही इस स्थूल शरीर में प्रविष्ट हुआ है। इसकी भी यह व्यष्टि स्थूल शरीर, अन्न का विकार होने के कारण अन्नमय कोश तथा जाग्रत् कही जाती है। उस समय (उस जाग्रद्दशा में) ये दोनों ही विश्व तथा वैश्वानर (विराट्) क्रमशः दिशा, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विन् देवताओं के द्वारा नियन्त्रित श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियों के द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का अनुभव करते हैं, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम तथा प्रजापति के द्वारा नियन्त्रित की जानेवाली वाणी आदि कर्मेन्द्रियों के द्वारा क्रमशः बोलना, ग्रहण, गमन, मलत्याग तथा आनन्दोपभोग करते हैं, क्रमशः चन्द्र, चतुर्मुख, शंकर तथा अच्युत के द्वारा नियन्त्रित मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार इन चार अन्तरिन्द्रियों के द्वारा क्रमशः संकल्प, निश्चय, अहंकार तथा चिन्तन का सम्पादन

करते हैं। इस प्रकार से ये दोनों इन समस्त स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं क्योंकि श्रुति प्राप्त होती है कि जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः – जागरित अवस्था में बहिःप्रज्ञः है।

विशेष : स्थूल शरीर की समष्टि तथा व्यष्टि दोनों ही अन्नमय हैं, इसी कारण इनको अन्नमय कोश कहा जाता है। ये स्थूल भोग का आयतन हैं, इस कारण इनको स्थूल शरीर कहा जाता है। चूँकि स्थूल भोग जाग्रदवस्था में ही सम्भव होता है इस कारण इनको जाग्रत भी कहते हैं। स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य वैश्वानर है तो उसकी व्यष्टि से उपहित चैतन्य विश्व है। ये दोनों विश्व तथा वैश्वानर जाग्रद् अवस्था में किस प्रकार से भोग करते हैं, इसकी एक प्रक्रिया है। ये दोनों श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियों के द्वारा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का अनुभव करते हैं, श्रोत्र के द्वारा शब्द का, त्वगिन्द्रिय के द्वारा स्पर्श का, चक्षु के द्वारा रूप का, रसना के द्वारा रस का तथा घ्राण के द्वारा गन्ध का भोग होता है। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ क्रमशः दिशा, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विन् देवताओं के द्वारा नियन्त्रित होती हैं। ये दोनों वाणी, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ इन कर्मेन्द्रियों के द्वारा क्रमशः बोलना, ग्रहण, गमन, मलत्याग तथा आनन्दोपभोग करते हैं। ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ क्रमशः अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम तथा प्रजापति के द्वारा नियन्त्रित होती हैं। अन्तःकरण चार प्रकार का है मन, बुद्धि, चित्त तथा अङ्कार। इन चार अन्तरिन्द्रियों के द्वारा विश्व तथा वैश्वानर क्रमशः संकल्प, निश्चय, अहंकार तथा चिन्तन का कार्य करते हैं। मन, बुद्धि, चित्त तथा अङ्कार के नियन्त्रक हैं क्रमशः चन्द्र, चतुर्मुख, शङ्कर तथा अच्युत। इस प्रकार से ये दोनों स्थूल विषयों का भोग करते हैं।

स्थूल शरीर की समष्टि एवं व्यष्टि तथा उससे उपहित चैतन्य का अभेद सम्यग् रूप से अवगाह्य है। एतदर्थ कहा गया है –

अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च
वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तगत–प्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः। एवं
पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः। एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि
समष्टिरेको महान्प्रपञ्चो भवति यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा
वावान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं
चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगत – प्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव।

व्याख्या : यहाँ पर भी इन दोनों की स्थूल व्यष्टि एवं समष्टि का तथा विश्व एवं वैश्वानर का वन एवं वृक्ष की तरह तथा वन एवं वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश की तरह अथवा जल एवं जलाशय की तरह तथा जल एवं जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश की तरह अभेद होता है। इस प्रकार से पंचीकृत पंच भूतों से स्थूल प्रपंच की उत्पत्ति होती है। इन स्थूल सूक्ष्म कारण प्रपंचों की भी समष्टि एक महान् प्रपंच होता है, जैसे कि अवान्तर वनों की समष्टि एक महावन होता है, अथवा जिस प्रकार से अवान्तर जलाशयों की समष्टि एक महान् जलाशय होता है। उससे उपहित चैतन्य वैश्वानर से ईश्वर पर्यन्त चैतन्य भी अवान्तर वन से अवच्छिन्न आकाश की तरह या अवान्तर जलाशयगत प्रतिबिम्बाकाश की तरह एक ही है।

विशेष : जैसे पूर्व में समष्टि व व्यष्टि तथा व्यष्टि व समष्टि से उपहित चैतन्यों का अभेद होता है, उसी प्रकार से यहाँ पर भी स्थूल शरीर की समष्टि तथा उसकी व्यष्टि में अभेद है। इस स्थल में भी पूर्ववत् उदाहरण दिया जाता है वन तथा वृक्ष का या जलाशय तथा जल का।

इससे भी आगे बढ़ते हुए प्रकृत विषय का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार ने बताया कि कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल प्रपंचों की समष्टि एक महान् प्रपंच होता है। वहाँ पर भी

समष्टि तथा व्यष्टि वस्तुतः एक ही होता है। उसी प्रकार से इनसे उपहित चैतन्य वैश्वानर से लेकर ईश्वर पर्यन्त वस्तुतः एक ही होता है। इनका एकत्व समझाने के लिए पूर्ववत् ही दृष्टान्त दिया गया है। जैसे वन तथा वृक्ष, जलाशय तथा जल भिन्न नहीं होते हैं। वन तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश भिन्न नहीं होता है। जलाशय तथा जल भिन्न नहीं होते और जलाशयगत आकाश का प्रतिबिम्ब तथा जलगत आकाश का प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं होते हैं।

12.3 सारांश

सृष्टि प्रक्रिया में सूक्ष्म शरीर व स्थूल शरीर तक की बात यहां बतायी गयी। सूक्ष्म शरीर अपंचीकृत पञ्च भूतों से उत्पन्न होता है तथा स्थूल शरीर पंचीकृत पंच महाभूतों से उत्पन्न होता है। स्थूल शरीर अन्नमय कोश है। विज्ञानमय कोश के छह घटक हैं बुद्धि तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। मनोमय कोश के घटक हैं मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। प्राणमय कोश के घटक हैं पाँच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ। इन तीनों कोशों को लेकर सूक्ष्म शरीर बनता है। समस्त सूक्ष्म शरीरों को एक साथ लिया जाये तो उसको सूक्ष्म शरीर की समष्टि तथा एक–एक को सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि कहा गया है। सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को सूत्रात्मा बताया गया, इसी का नाम हिरण्यगर्भ तथा प्राण भी है। सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को तैजस कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर के घटक हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन तथा पाँच प्राण। स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को वैश्वानर तथा स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को विश्व कहा जाता है। इनमें वस्तुतः अभेद है, परन्तु व्यावहारिक रूप से इनमें भेद भी स्वीकार्य है।

12.4 शब्दावली

सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, पंचीकरण, हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, विश्व, वैश्वानर, तैजस, प्राण, शरीर, स्थूल शरीर, आवरण शक्ति, विक्षेप शक्ति, निमित्तकारण, उपादानकारण, त्रिगुणात्मक

12.5 उपयोगी पुस्तकें

1. सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार विद्वन्मनोरंजिनी तथा हिन्दी व्याख्या सहित बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
2. सदानन्द योगीन्द्र प्रणीत वेदान्तसार आपदेवकृत बालबोधिनी तथा बालव्युत्पत्तिवर्धिनी हिन्दी व्याख्या के साथ, सच्चिदानन्द मिश्र, दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी।

12.6 अभ्यास प्रश्न

1. सूक्ष्म शरीर का क्या स्वरूप है? विवेचन कीजिए
2. सूक्ष्म शरीर की समष्टि तथा व्यष्टि से आप क्या समझते हैं? सोदाहरण बताइए।
3. विराट् या वैश्वानर से आप क्या समझते हैं?
4. चार प्रकार के स्थूल शरीर कौन से हैं, बताइए।
5. स्थूल प्रपंच की उत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई 13 अध्यारोप, अपवाद और तत्त्वम्पदार्थ शोधन

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- वेदान्तसार में वर्णित अध्यारोपापवाद निरूपण को स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे।
- महाप्रपंच, उससे उपहित चैतन्य तथा अनुपहित चैतन्य का सम्बन्ध जान सकेंगे।
- विविध दृष्टियों से प्रत्यगात्मा में आरोप को जानेगें।
- वेदान्त की दृष्टि से आत्मा के स्वरूप को समझेगें।
- विवर्त और विकार के भेद–प्रभेदों की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- महाप्रपंच के लय के क्रम को जानेंगे ।
- तत्त्वमसि वाक्य में तत् तथा त्वम् पदों के वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ को समझ सकेंगे; तथा
- नए पदों की प्रकृति एवं प्रत्यय को जान सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

वेदान्तसार में सूक्ष्म सृष्टि के पश्चात् पंचीकरण, स्थूल सृष्टि तथा महाप्रपंच का विवरण बताया गया है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि इस महाप्रपंच की उस ब्रह्म से एकता किस तरह सिद्ध होती है तथा उसमें भेद किस दृष्टि से दिखाई देता है? इस इकाई में यह स्पष्ट किया गया है कि महाप्रपंच की समष्टि, व्यष्टि तथा तदुपहित चैतन्य, ईश्वर, प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ, तेजस, वैश्वानर और विश्व में कोई भेद नहीं है। अज्ञान के कारण ईश्वर चैतन्य में इस महाप्रपंच का आरोप किया जाता है। आत्मा में भी भिन्न–भिन्न दृष्टियों से अध्यारोप की प्रतीति होती है। इस इकाई में स्थूल दृष्टियों का परिमार्जन करते हुए अंत में उन सभी का एकमत से वेदान्त की दृष्टि से तात्पर्य स्पष्ट किया गया है जिससे आत्मा तथा शुद्ध चैतन्य का स्वरूप तथा संबंध पूर्णतः स्पष्ट होता है। अध्यारोप तथा अपवाद की प्रक्रिया से स्पष्टीकरण के पश्चात्

'तत्वमसि' वाक्य में यह स्पष्ट होता है कि 'तत्' और 'त्वं' यह दोनों लक्षण हैं और शुद्ध चैतन्य लक्ष्य है। यह जगत् उस ब्रह्म का विवर्त मात्र है तथा तात्विक दृष्टि से अभिन्न है ।

13.2 अध्यारोप – आभ्यां महाप्रपञ्च से एवमध्यारोपः पर्यन्त (35-46)

अध्यारोप विचार में पहले ईश्वर चैतन्य में महाप्रपंच के आरोप पर चर्चा करते हैं।

(1) आभ्यां महाप्रपञ्चदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं' सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति।एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः।

व्याख्या : सदानंद कहते हैं कि इस महाप्रपंच और उससे उपहित चैतन्य से तपे हुए लोहे के खंड के समान अनुपहित शुद्ध चैतन्य अभिन्न है, 'यह सब ब्रह्म ही है' यह जो कहा जाता है वह इस कथन का अभिधा से प्राप्त वाच्यार्थ है तथा वही भिन्न होकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्यार्थ हो जाता है। इस प्रकार वस्तु अर्थात् ईश्वर चैतन्य में सामान्य रूप से अवस्तु अर्थात् महाप्रपंच का आरोप रूपी अध्यारोपण वर्णित किया गया।

तात्पर्य यह है कि जैसे लोहे के गोले को आग में डाल देने से वह लाल हो जाता है और उससे जल जाने पर 'मैं लोहे से जल गया' यह कहा जाता है किंतु वास्तविकता में दाहकता शक्ति तो अग्नि में होती है, लोहे में नहीं होती है। आग के संपर्क से लोहे तथा आग का अन्योन्यतादात्म्याध्यास होता है, उसी प्रकार महाप्रपंच तथा उससे अवच्छिन्नचैतन्य के साथ अन्योन्यतादात्म्याध्यास जो अनुपहित अर्थात्स उपाधि शून्य शुद्ध चैतन्य है वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वाच्यार्थ है और उससे अविच्छिन्न चैतन्य के अन्योन्यतादात्म्याध्यास से शुद्ध चैतन्य को पृथक मानने पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्यार्थ हो जाता है। 'अयो दहति' मैं अयोगत अग्नि की लक्षणा से लोहे की अग्नि जलाती है यह लक्ष्यार्थ माना जाता है। उसी प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य में भी' सर्वं खल्विदं' के चैतन्यांश में लक्षणा के द्वारा सर्वप्रपंच तथा चैतन्य की एकता सिद्ध होगी। इस प्रकार यहां तक यह स्पष्ट किया गया कि ईश्वर चैतन्य में सामान्य रूप से इस महा प्रपंच का किस प्रकार आरोप किया जाता है।

विशेष विवेचन : इस विवरण के अंश में यह सिद्ध किया गया है कि इस महाप्रपंच तथा तदुपहित चैतन्य से अभिन्न होकर अनुपहित शुद्ध चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वाच्यार्थ है तथा वही विविक्त अर्थात भिन्न होने पर लक्ष्यार्थ है। महाप्रपंच तदुपहित चैतन्य तथा अनुपहित चैतन्य के एकत्व की सिद्धि के लिए ही लक्षणा शब्द शक्ति का आश्रय लिया गया है। इसे समझने हेतु लक्षणा का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है। लक्षणा का ज्ञान प्राप्त करने हेतु शब्द शक्ति को सामान्य रूप से जानना आवश्यक है। प्रायः शब्द की त्रिविध शक्तियों, वृत्तियों या व्यापार का वर्णन काव्यशास्त्रादि में प्राप्त होता है – अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना। शब्द के मुख्यार्थ, अभिधेयार्थ, वाच्यार्थ या सङ्केतितार्थ का बोध कराने वाला शब्द का मुख्य व्यापार अभिधा कहलाता है किन्तु जब वाक्य में स्थित पदों से मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होती है वहाँ रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी प्रयोजन विशेष के प्रतिपादन हेतु मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। उसी अन्यार्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है

तथा उसका बोधन कराने वाली शक्ति को लक्षणा कहा जाता है। लक्षणा का लक्षण मम्मट विरचित प्रसिद्ध ग्रंथ काव्य प्रकाश के अनुसार कहा गया है

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।(काव्यप्रकाश 2/9)

अभिधेयार्थ अर्थात् वाच्यार्थ या मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर ही लक्षणा होती है इसमें अभिधेयार्थ का योग कभी रहता है, कभी नहीं। कभी आंशिक रूप से रहता है, कभी आंशिक रूप से नहीं भी रहता है। इस आधार पर वेदान्तशास्त्र में लक्षणा शब्द शक्ति के तीन भेद कहे गये हैं जिनका विस्तृत विवेचन आगे किया जा रहा है।

सारांश यह है कि मुख्यार्थ का बाध होना लक्षणा के मार्ग का प्रथम सोपान है। यहां भी मुख्यार्थ का बाध होने के कारण लक्षणा मानना अनिवार्य है। लक्षणा के द्वारा ही 'सर्वं खल्विदं' रूप विशेषण अंश को त्याग कर चैतन्यांश मात्र का ग्रहण किया जाएगा इस प्रकार महाप्रपंचोपहित चैतन्य एवं अनुपहित चैतन्य के एकत्व की सिद्धि संभव होती है।

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते।अतिप्राकृतस्तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव पुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति। चार्वाकस्तु 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्स्थूलोऽहं कृ शोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति। अपरश्चार्वाक.........इत्यादि श्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चे न्द्रियाण्यात्मेति वदति।

व्याख्या : पिछले गद्यांश में वस्तु अवस्तु का आरोप सामान्य रूप से प्रदर्शित किया गया। अब प्रत्यग् अर्थात अंतरात्मा चैतन्य में 'यह आत्मा है' यह आरोप विशेष रूप से कहा जा रहा है। यहां प्रत्यगात्मा का तात्पर्य अंतरात्मा है जो बुद्धि, मन, इंद्रिय समूह, शरीर तथा दृश्य जगत का साक्षी तथा दृष्टा होने के कारण इन सब की अपेक्षा आंतरिक है। इस आत्मा के स्वरूप में भी बुद्धि भेद से अध्यारोप संभव होता है, क्रमशः स्थूल बुद्धि से सूक्ष्म बुद्धि की ओर इस अध्यारोप का स्वरूप सदानंद प्रदर्शित करते हैं।

अतिप्राकृत अर्थात् अतिसामान्यजन 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादि श्रुति के अनुसार अपने समान ही अपने पुत्र पर भी प्रेम देखने के कारण तथा पुत्र के पुष्ट या नष्ट हो जाने पर मैं ही पुष्ट या नष्ट हो गया इत्यादि अनुभव करने के कारण पुत्र को ही आत्मा कहते हैं।

चार्वाक मतानुयायी 'स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः' अर्थात् वह पुरुष अन्नरस का विकार है इत्यादि श्रुति वचनानुसार स्थूल शरीर को ही आत्मा कहते हैं। इसमें तर्क देते हैं कि लोक में जलते हुए घर में से अपने पुत्र को छोड़कर अपने शरीर की रक्षा हेतु बाहर निकल जाना प्रमाणित करता है कि पुत्र से अधिक मनुष्य स्वयं के शरीर से प्रेम करता है तथा 'मैं कृश हूं, मैं स्थूल हूँ' ऐसा ही लोक में मनुष्य अभिव्यक्त करता है। इन अनुभवों के आधार पर चार्वाक स्थूल शरीर को आत्मा कहते हैं। अन्य चार्वाक लोक इंद्रियों को आत्मा कहते हैं वे 'ते ह प्राणा : प्रजापति पितरमेत्य...' अर्थात् वे प्राण अर्थात् इंद्रियाँ प्रजापति के पास जाकर कहने लगी; इस श्रुति वचन को आधार बनाकर तर्क देते हैं कि प्रजापति के पास जाना और उनसे प्रश्न करना यह सब कार्य अचेतन नहीं कर सकते अतः इंद्रिया ही प्रधान हैं। इंद्रियों का अभाव होने पर शरीर में

चलनाभाव होता है अर्थात् निश्चेष्ट बैठ जाने पर जब इंद्रियाँ कुछ काम नहीं करती तब शरीर गमन आदि कोई भी काम नहीं सकता, साथ ही' मैं काना हूं, मैं बधिर हूं' इत्यादि अनुभूतियों के कारण भी इंद्रियाँ ही आत्मा है।

विशेष **विवेचन** :

सदानंद अंतरात्मा में अध्यारोप की विविध दृष्टियों को प्रस्तुत करते हैं। सर्वप्रथम स्थूलतम दृष्टि के रूप में पुत्रात्मवादियों का सिद्धांत यह कहता है कि परम प्रेम का पात्र ही आत्मा होता है अतः पुत्र ही आत्मा है। शरीरात्मवादी चार्वाक इनका खंडन करते हुए पुत्र से अधिक प्रिय देह को सिद्ध करते हैं, वहीं इंद्रियात्मवादी चार्वाक कहते हैं कि काना या बधिर होना इंद्रियों का धर्म है अतः इंद्रियाँ ही आत्मा है और शरीर का आत्मा होना गौण है। सुषुप्ति काल में शरीर चेष्टाविहीन तथा जड़ हो जाता है अतः शरीर आत्मा नहीं है अपितु इंद्रिया ही चेतन हैं जिसका प्रमाण उपर्युक्त श्रुति है। साथ ही चैतन्य से होने वाली शारीरिक चेष्टा इंद्रियों के होने पर ही होती है तथा सुषुप्ति काल में इंद्रियों के न होने पर बंद हो जाती है। अतः इंद्रियों का चेतनत्व सिद्ध है।

अपरश्चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावानित्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति। अन्यस्तु चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति।

व्याख्या : पुत्रात्मवादी, देहात्मवादी तथा इन्द्रियात्मवादी चार्वाक सिद्धांतों के पश्चात् प्राणात्मवादी चार्वाकों के सिद्धांत की चर्चा में कहा जाता है कि 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' अर्थात् आंतरिक आत्मा इनसे अतिरिक्त प्राणमय है, इत्यादि श्रुति के अनुसार प्राणों का अभाव हो जाने पर इंद्रियों के कार्य में असमर्थ हो जाने के कारण तथा 'मैं भूखा हूं, मैं प्यासा हूं' इत्यादि अनुभव से प्राण ही आत्मा है। तात्पर्य यह है कि इनके अनुसार इंद्रियाँ तथा शरीर ये कोई आत्मा नहीं है, अपितु इनसे भिन्न प्राण ही आत्मा है, क्योंकि प्राणों के बिना यह शरीर तथा इंद्रियाँ कोई भी कार्य नहीं कर सकते। अतः निश्चित है कि इनके अतिरिक्त कोई है जो इनके द्वारा कार्य करता है और वह प्राण ही है।

इसके पश्चात् मन–आत्मवादी चार्वाकों के सिद्धांत को उद्धृत करते हुए कहना है कि 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' अर्थात् आंतरिक आत्मा मनोमय है, इत्यादि श्रुति के अनुसार मन के सुप्त हो जाने पर प्राण आदि का अभाव हो जाने से तथा 'मैं संकल्पवान हूं, मैं विकल्पवान हूं' इत्यादि अनुभव होने के कारण 'मन आत्मा है', ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि इनके मत में प्रत्येक ज्ञान में प्राण के साथ मन का संयोग अत्यंत आवश्यक है। मन के सो जाने पर प्राण और वाणी निष्क्रिय हो जाते हैं अतः मन ही आत्मा है।

विशेष **विवेचन** : यहां प्राण शब्द पंचप्राण हेतु प्रयुक्त हुआ है यदि प्राण क्षीण हो जाए तो इंद्रिय विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हैं तथा प्राण संचरण से इंद्रियाँ पुनः अपने विषयों को ग्रहण करने लगती हैं। विद्वन्मनोरंजिनी के अनुसार भी भूख पिपासा आदि का अनुभव प्राणों की उपस्थिति से ही होता है, कहा है – 'अशनायापिपासयोश्च प्राणधर्मत्वं प्रसिद्धमन्नपानयोरलाभे प्राणविच्छेददर्शानात्' अतः प्राण ही आत्मा है।

इसी तरह अन्वयव्यतिरेक से प्राणों के आत्मत्व का खंडन कर मन को आत्मा के स्थान पर रखा गया कि मन के सोने पर प्राणों की अनुभूति नहीं होती तथा मन के जागृत रहने पर प्राणानुभूति होती है। इस सिद्धांत को भी विद्वन्मनोरंजिनी में इस प्रकार कहा गया है – 'मनसि सुप्ते विलीने प्राणादेरभावाद् दृतिवच्छ्वासोच्छ्वासदर्शनस्य द्रष्टु : दृष्टयध्यारोपितत्वाद् इंद्रिय भावेपि स्वप्नस्मृत्योर्मनसि सम्प्रतिपत्तेर्मन एवात्मेत्यर्थ रूद्य' अतः मन ही आत्मा है।

बौद्धस्तु 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इत्यादिश्रुतेः कर्त्रारभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्ताहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति। प्राभाकरतार्किकौ तु 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः 'इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः। भाट्टस्तु 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति। अपरो बौद्धः 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति।

व्याख्या : योगाचार मतावलंबी विज्ञानवादी बौद्धों के मत को प्रस्तुत करते हैं कि' अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः 'अर्थात् आंतरिक आत्मा विज्ञानमय है, इत्यादि श्रुति के अनुसार कर्ता के अभाव होने पर करण की शक्ति का अभाव हो जाने से तथा 'मैं कर्ता, मैं भोक्ता' इत्यादि अनुभव से 'बुद्धि आत्मा है' ऐसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार बुद्धि आत्मा है, मन तथा इंद्रियाँ करण हैं। यदि कर्ता न हो तो करणमात्र में कार्य संपादन की शक्ति नहीं रहती। कर्ता और भोक्ता के अनुभव से भी यही ज्ञात होता है कि कार्य संपादित करने वाला तथा तदनुसार फल भोगने वाला शरीर और इंद्रियों से भिन्न कोई है, वह बुद्धि है।

प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक और तार्किक यह कहते हैं कि 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' अर्थात आंतरिक आत्मा आनंदमय है इत्यादि श्रुति के अनुसार बुद्धि आदि का अज्ञान में लीन होना देखकर तथा 'मैं अज्ञानी हूं, मैं अज्ञ हूं' इत्यादि अनुभवों के बल पर 'अज्ञान ही आत्मा है' यह सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि का अज्ञान में अर्थात् ज्ञान भिन्न आत्मा में लय हो जाता है और उसी अज्ञान की अंततः अनुभूति होती है फलतः अज्ञान ही आत्मा है।

कुमारिलभट्ट मतानुयायी मीमांसक इस सिद्धांत में किंचित् असहमति प्रदर्शित करते हुए 'प्रज्ञानघन एवानन्दमयः' अनुसार सुषुप्ति अवस्था में प्रकाशाप्रकाश दोनों के सद्भाव के कारण तथा 'मैं अपने को नहीं जानता' इत्यादि अनुभव के कारण अज्ञानोपाधि युक्त चैतन्य को आत्मा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति दशा में मन तथा इंद्रियों का व्यापार नहीं होता, अतः उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान से 'सुखमहमस्वाप्सम् न किंचिदवेदिषम्' मैं सुख से सोचा, मैंने भी अनुभव नहीं किया यह परामर्श नहीं हो सकता किंतु जागृत अवस्था में आने पर ऐसा परामर्श होता है इसलिए अन्य किसी के अभाव में अज्ञान संवलित चैतन्य ही आत्मा सिद्ध होता है। यहां 'मैं सुख से सोया'यह बोधांश प्रकाशक है।

अतः सुषुप्ति में प्रकाश सद्भाव तथा 'मैं कुछ भी ना जान पाया' इस अंश में विज्ञानाभाव होने के कारण अप्रकाश सद्भाव है। इस प्रकार सुषुप्ति दशा में प्रकाशाप्रकाशसद्भाव दोनों रहते हैं। इस संबंध में एक उदाहरण और प्रसिद्ध है –

'मामहं न जानामि' इस अनुभव में भी दो अंश है एक कर्तृअंश दूसरा ज्ञानांश है। अर्थात ज्ञान की अपेक्षा ज्ञाता अन्य है, वही आत्मा है।

इसी संदर्भ में बौद्धों के माध्यमिक संप्रदाय का मत उल्लिखित करते हैं कि 'असदेवेदमग्र आसीत्' अर्थात् यह नामरूपात्मक जगत् सृष्टि के पूर्व शून्य था तथा सुषुप्ति में कुछ भी नहीं रहता। सुषुप्ति के पश्चात् उठने पर 'सुषुप्ति में मैं न था' ऐसा निजाभावपरामर्शविषयक अनुभव होने से शून्य को आत्मा कहते हैं अर्थात सर्वाभाव रूप शून्य ही आत्मा है वह कोई द्रव्य नहीं है।

विशेष विवेचन : इस गद्य भाग में विज्ञानवादी बौद्धों, प्रभाकर मतानुयायी मीमांसक, कुमारिल भट्ट मतानुयायी मीमांसक तथा शून्यवादी बौद्धों का मत आत्मा के विषय में है। विज्ञानवादियों के मत में यह विशिष्ट तर्क निहित है कि कुंभकार को कर्ता के अभाव में घट बनाने का सामर्थ्य प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार अधिष्ठाता विज्ञान के बिना मन आदि इंद्रियों में चिंतन आदि चेष्टा का सामर्थ्य नहीं हो सकता। मन तो कुंभकार के चाक के समान करण मात्र है। उसका प्रयोगकर्ता विज्ञान कुंभकार के सदृ श है। यदि विज्ञान अर्थात कुंभकार ना हो तो मन अर्थात चाक कोई भी क्रिया अर्थात् घटादि निर्माण में समर्थ नहीं हो सकता। अतः वही कर्ता विज्ञान आत्मा है।

प्राभाकर तथा तार्किकों ने जिस श्रुति को प्रमाण माना उसके पीछे यह तर्क है कि मन तथा इंद्रियों के विश्रांत हो जाने पर किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। उस अवस्था में आत्मा स्वगुणमुक्त होता है, अतः उस काल में वह ज्ञान हो ही नहीं सकता। आत्मा में ज्ञान की स्थिति और ज्ञान का अभाव होता ही रहता है। इससे बौद्धों का विज्ञान को आत्मा मानना खंडित हो जाता है तथा अज्ञान ही आत्मा सिद्ध होता है।

मीमांसाशाँस्त्र के दूसरे प्रख्यात आचार्य कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायियों ने आत्मा को प्रज्ञानघन तथा आनंदमय कहा। उक्त श्रुति वाक्य का तात्पर्य आचार्य शंकर के मतानुसार ज्ञातव्य है– 'शंकराचार्य के अनुसार स्वप्न और जागृत अवस्था में होने वाले मन के स्पंद प्रज्ञान हैं और वे जिस अवस्था में घनीभूत जैसे हो जाते हैं वह सुषुप्ति की अवस्था अविवेकी होने के कारण प्रज्ञानघन कही जाती है, जैसे रात में अंधकारवशात् समस्त वस्तुएं अविभज्यमान लगती हैं तथा सब कुछ घनीभूत प्रतीत होता है, उसी प्रकार वह सुषुप्ति 'प्रज्ञानघन' अवस्था है। उस समय प्रज्ञानातिरिक्त अन्यजातीय वस्तुएं विद्यमान नहीं रहती है इसलिए मन का विषयविषयी भाव से स्फुरणायास दुःख का इस अवस्था में अभाव होने से वह प्राज्ञ आनंदमय अर्थात् आनंद ही नहीं है। आनंद प्रचुर है, अतः आत्मा का ज्ञानाज्ञान रूप होना प्रमाणित होता है। सुषुप्ति काल में ज्ञान और अज्ञान उभय विद्यमान होने से आत्मा में भी ज्ञानाज्ञान दोनों का अस्तित्व रहता है। सुषुप्ति में उठने के बाद शयन के आनंद का अनुभव ज्ञान का ही विमर्श मात्र है तथा शयन काल में कुछ न जान पाना अज्ञान के अस्तित्व को स्पष्ट करता है। इस प्रकार सुषुप्ति काल में प्रकाश रूपी ज्ञान तथा और प्रकाश रूपी अज्ञान दोनों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है।

शून्यवादी माध्यमिक मतावलंबी बौद्ध आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करते हैं अतः वे इसे शून्य कोटि में स्थापित करते हैं। शून्य अर्थात् दृष्टा और दृश्य का सर्वथा अभाव तदनुसार आत्मा सब का अभाव रुप है, इनका मत यह है कि अपनी सत्ता का भी बोध न कराने वाली सुषुप्ति अवस्था में किसी प्रकार की अनुभूति ना होने से आत्मा के अभाव का ही निश्चय होता है।

उपर्युक्त मतों का क्रमशः अवलोकन करने से आत्मा के विषय में महान भ्रम की उपस्थिति होती है सभी ने स्वार्थसिद्धि हेतु श्रुति वचनों का उपयोग किया है किंतु इन श्रुति वाक्यों के पूर्ण प्रसंग तथा पौर्वापर्य को देखा जाए तो ये सभी मत खंडित हो जाते हैं। साथ ही इनमें कोई भी सिद्धांत प्रबल नहीं है क्योंकि ये सिद्धांत उत्तरोत्तर स्वयं खंडित होते जा रहे हैं। अतः संप्रति सदानंद वेदान्तानुसार सिद्धांत पक्ष को कहते हैं।

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते।एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु, पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्ततरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्व–बाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव। किञ्च प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव।

व्याख्या : इन पुत्रात्मवादियों में अनात्मत्व प्रतिपादित किया जा रहा है अर्थात् पुत्र आदि से लेकर शून्यपर्यंत तक सभी में आत्मा का न होना सिद्ध किया जा रहा है। कहा भी गया है कि इन अति साधारण लोगों द्वारा उदाहरण स्वरूप कहे गए श्रुति वचनो, युक्तियों तथा अनुभवाभासों में पूर्वपूर्वोक्त श्रुतियों, युक्तियों व अनुभवाभासों को उत्तरोत्तर श्रुति वचनों, युक्तियों एवं अनुभवाभासों द्वारा पुत्र आदि का आत्मत्व बाधित हो जाने से पुत्र आदि का आत्मा न होना स्पष्ट ही है तथा आंतरिक आत्मा अस्थूल, अचक्षु, अप्राण, अमना, अकर्ता, चैतन्य प्रकाशस्वरूप नित्य है। इस प्रबल श्रुतियों के विरोधी होने के कारण पुत्र आदि से शून्य पर्यंत सब के जड़ तथा चैतन्याभास मात्र होने से घटादि से सदृश अनित्य होने के कारण 'मैं ब्रह्म हूं' यह विद्वानों के अनुभव के प्राबल्य से तथा उन उन श्रुतिवचनों, युक्तियों व अनुभवाभासों से बाधित होने के कारण पुत्रादि से शून्यपर्यंत सब आत्मा नहीं है अपितु, प्रत्यक् चैतन्य आत्मा है; यह स्पष्ट होता है

तात्पर्य यह है कि विविध दृष्टियों से चिंतकों ने अपने मतों को प्रमाणित करने के लिए जिन श्रुतियों को उद्धृत किया है वे वास्तविकता में उन अर्थों में नहीं कही गई हैं जो उनको अभीष्ट है। अतः वे श्रुतियाँ, श्रुतियों की केवल प्रतीति मात्र है तथा उन्होंने जो युक्तियाँ दी है वे भी युक्तियाँ नहीं है अपितु युक्तियों का आभास है क्योंकि उनमें हेत्वाभास आदि दोष विद्यमान है तथा उनका अनुभव भी एकांगी होने के कारण अनुभव का आभास है। अतः श्रुत्याभास, युक्त्याभास तथा अनुभवाभास से पुत्र आदि का आत्मा होना प्रमाणित नहीं हो सकता। इस प्रकार 'अहम्' प्रत्ययविषयक आत्मा कौन है? 'यह संदेह बना ही रहता है। इसके निवारणार्थ विविध श्रुतियाँ उद्धृत की गई हैं। पुत्र आदि को आत्मा कहने वाली श्रुतियों का तो बाध उसके आगे कही जाने वाली श्रुति स्वयं कर देती है। अतः सिद्ध होता है पुत्र आदि से शून्य पर्यंत सब जड़ है उसमें चैतन्य का आभास मात्र ही है। घट आदि समस्त दृश्य पदार्थ अनित्य हैं और उनको प्रकाशित करने वाला 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार का विद्वदनुभूत एवं प्रबलतम श्रुतियों से प्रमाणित नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव प्रत्यक् चैतन्य ही आत्मा है।

विशेष विवेचन : उक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कुछ श्रुतियों के अनुसार पुत्र आदि आत्मा है तो कुछ श्रुतियाँ इनका विरोध करती हैं। यहां सिद्धांत पक्ष की दृष्टि से पुत्र आदि में आत्मा विषयक श्रुतियाँ अप्रामाणिक हैं ऐसा इस प्रसंग में नहीं समझना चाहिए क्योंकि श्रुतियाँ वेद वाक्य हैं तथा वेद वाक्य अप्रामाणिक नहीं हो सकता। इस

प्रकार पुनः भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है। इसका समाधान यह है कि उद्धृत सभी श्रुति वाक्य प्रामाणिक हैं किंतु स्थूलारून्धती न्याय से पूर्व श्रुतियों के निराकरण द्वारा सूक्ष्म सूक्ष्म वस्तुओं को समझाने में उनका तात्पर्य है न कि स्वार्थ में तात्पर्य है।

इस न्याय का तात्पर्य यह है कि जिस तरह अरुंधती, जोकि एक अति सूक्ष्म तारा है, उसे जो व्यक्ति नहीं जानता उसे करोड़ों तारों के समूह में इस तारे को पहचानना अति कठिन है। उसके लिए एक युक्ति शास्त्रों में प्रसिद्ध है जिसे स्थूलारून्धती न्याय कहते हैं इसके अनुसार पहले उस व्यक्ति को चंद्रमा दिखाकर कहा जाता है कि यही अरुंधती है, इसके बाद कहते हैं चंद्रमा का निकटवर्ती तारा अरुंधती है, उसके बाद उस तारे से भिन्न किंतु उसके समीप सात तारों के समूह को अरुंधती कहते हैं तत्पश्चात् उन सातों में से तीन को अरुंधती कहकर उनके बीच वाले अति सूक्ष्म तारे को अरुंधती कहकर उसकी पहचान कराते हैं। इस तरह एक अति सूक्ष्म अरुंधती तारे को समझने के लिए क्रमशः पांच सोपानों का आश्रय लिया जाता है – चंद्रमा, चंद्रमा के समीपस्थ तारा, सात तारे, तीन तारे तथा मध्यम अति सूक्ष्म तारा। इस प्रकार यहां सोपान पर आरोहण के समान किसी शिष्य को उत्तरोत्तर समझाए जाने पर पूर्व पूर्व का परित्याग करके फिर सभी वाक्यों का तात्पर्य अरुंधती तारे के प्रतिपादन में ही संकलित कर दिया जाता है उसी प्रकार वेदान्त में भी अन्नमय आत्मा, प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानमय आत्मा, आनंदमय आत्मा आदि परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक वाक्य उद्धृत किए गए हैं। लेकिन ज्ञाता के सामर्थ्य के अनुसार क्रमशः पूर्व पूर्व का परित्याग करके उत्तरोत्तर परमसूक्ष्म ब्रह्म का प्रतिपादन ही इन वाक्यों में अभीष्ट है अतः सभी वेद वाक्य साक्षात् रुप से अथवा परंपरा से अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन कर्ता होने के कारण प्रामाणिक हैं और उनमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात् जो श्रुति वाक्य विभिन्न दृष्टियों से कहे गए हैं तथा पुत्र आदि से लेकर शून्यपर्यंत आत्मा को समझने के लिए स्थूल से सूक्ष्मतत्व की ओर जाने का मार्ग है।

इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतन स्वरूप वह आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है। घटादि जड़ पदार्थों के प्रकाशन के लिए प्रकाश आवश्यक है पर आत्मा के चेतन होने के कारण इस को प्रकाशित करने के लिए कोई भी प्रकाश अपेक्षित नहीं है। 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः', 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इत्यादि श्रुतियाँ इसके प्रकाश होने में प्रमाण है। वह आत्मा एक होता हुआ भी अनेक वर्तमान हैं ऐसा विविध श्रुतियाँ प्रतिपादित करती हैं; यथा–

- एको देवो बहुधा सन्निविष्टः।
- एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
- अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
- उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोयमात्मा।

इत्यादि श्रुति प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि देह, इंद्रिय, प्राण, मन, बुद्धि इत्यादि से विलक्षण और उनका अध्यक्ष आत्मा उन से सर्वथा भिन्न है वही कर्म फलों का भोक्ता है।

अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्त्विति
वेदान्तविद्वदनुभवः।एवमध्यारोपः।

व्याख्या : इस प्रकार तत्तत् वस्तुओं का प्रकाशक नित्य, शुद्ध, बुद्ध ,मुक्त ,सत्य स्वभाव आंतरिक चैतन्य ही आत्मा है जो वस्तु अर्थात् यथार्थ है ऐसी वेदान्त विद्वानों की अनुभूति है। तथा इस वस्तु अर्थात् यथार्थ तत्व के स्वरूप को माया की आवरण शक्ति के प्रभाव से न देख कर और विक्षेप शक्ति के प्रभाव से उसी को भिन्न–भिन्न रूपों में समझना ही अध्यारोप है और यही अध्यास भी कहा जाता है।

विशेष विवेचन : नित्य अर्थात् सनातन है शुद्ध का तात्पर्य है, जो जन्म मृत्यु जरा अवस्था आदि दुखों से रहित असंसारी है। मुक्त अर्थात समस्त बंधनों से वह विहीन है किंतु अज्ञान व संसार में स्वयं को बंधन युक्त समझता है और बुद्ध का तात्पर्य यह है कि उस आत्मा को अपनी सत्ता अभिव्यक्त करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। वह स्वतः प्रकाशक बुद्ध है। वह सत्य स्वरूप है जिसका बाध नहीं होता। इसी वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप कहलाता है।

13.3 अपवाद और तत्त्वम्पदार्थषोधन – अपवादो नाम से त्वम्पदार्थलक्ष्यार्थो भवति पर्यन्त (47-49)

अध्यारोप के बाद अपवाद को स्पष्ट करते हैं।

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्।

व्याख्या : जब किसी सत्य वस्तु में अज्ञानवश असत्य वस्तु का अध्यारोप कर लिया जाता है, तो अज्ञानादि से उत्पन्न उस भ्रम का परिमार्जन कर सत्य वस्तु मात्र का स्थापन करना अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना या ज्ञान कराना अपवाद है। जैसे रस्सी में सांप का मिथ्यारोप अथवा शुक्ति में रजत का मिथ्या आभास होने पर उसे दूर कर रज्जु या शुक्ति रूपी सत्य वस्तु का ज्ञान कराना अपवाद है।

विशेष विवेचन : किसी भी अयथार्थ अर्थात् अवस्तु के पीछे गुप्त वस्तु को बताना अपवाद है। आपदेव ने बालबोधिनी में इसकी परिभाषा दी है –

'अवस्तुभूतस्य वस्त्वात्मनिर्देश' अर्थात् अवस्तुभूत या अज्ञानादिमिथ्याप्रपंच का वस्तु अर्थात् ब्रह्म रूप से कथन अपवाद है। विद्वन्मनोरंजिनी में कहा है 'कार्यस्य कारणमात्रसत्ताविशेषणं, कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्य असत्तावधारणं वापवादः' तात्पर्य है कि समस्त कार्य समूह का कारण में लय कर के कारण मात्र की सत्ता को अवशिष्ट रखना ही अपवाद है या समस्त कार्य समूह की कारण रूप से व्यतिरेक या भिन्न कोई भी सत्ता नहीं है ऐसा निश्चय करना ही अपवाद है। जैसे जब रज्जु अपने स्वरूप को छोड़े बिना ही सर्प के आकार की प्रतीत होने लगती है तो वह सर्प की आकृति रज्जु का विवर्त कहलाता है। उस रज्जु रूप विवर्त सर्पाकृति का अधिष्ठानभूत रस्सी मात्र रूप में रह जाना ही उसका अपवाद है, वैसे ही चैतन्य के विवर्तरूप अज्ञानादि प्रपंच का अधिष्ठान रूप चैतन्य मात्र के रूप में रह जाना ही उसका अपवाद है।

तदुक्तम् –'सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः, अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः।'इति।

व्याख्या : अभी तक संपादित विवरण में अपवाद का स्वरूप कहा गया है। यह अपवाद दो प्रकार का होता है विवर्त तथा विकार। जिसे इस कारिका के माध्यम से कहा है, जिसका तात्पर्य है कि कोई वस्तु अपने रूप को त्याग कर किसी अन्य रूप

को ग्रहण करती है तो वह विकार भाव कहलाता है, उदाहरणार्थ दूध का दही के रूप में परिणाम हो जाना विकार भाव है तथा किसी वस्तु में अपने रूप के परित्याग के बिना दूसरी वस्तु का मिथ्याभास होना विवर्त कहलाता है, यथा रज्जु का स्वस्वरूप अपरित्याग पूर्वक सर्प रूप में मिथ्या प्रतीत होना विवर्त कहलाता है।

विशेष विवेचन : प्रत्येक दर्शन कार्य कारण की दृष्टि से किसी सिद्धांत का पालन करता है। इस संदर्भ में वेदान्त विवर्तवाद का प्रतिपादन करता है। वेदान्त के अनुसार यह सांसारिक प्रपंच ब्रह्म का विवर्त है परिणाम नहीं है क्योंकि यदि इस जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना जाए तो ब्रह्म रूप सत्य वस्तु में प्रपंच की प्रतीति तो मिथ्या है, तथा इस भ्रम को हटाकर ब्रह्ममात्र का बोध होना ही अपवाद है। जब इस तथ्य का ज्ञान हो जाता है तब यह संपूर्ण प्रपंच अपने अपने कारणों में लीन हो जाता है तो वह मिथ्या प्रतीति स्वयं ही नष्ट हो जाती है और अंत में ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है। इसीलिए वेदान्त की दृष्टि में यह सृष्टि ब्रह्म का विवर्त है विकार नहीं।

तथाहि एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनानि एतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति।एतानि शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति।एतानि सत्त्वादिगुणसहितानि अपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेण तत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति। एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यञ्चेश्वरादिकम् एतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति।

व्याख्या : वेदान्त की दृष्टि से लय का क्रम बताते हुए कहते हैं कि ये भोगायतन अर्थात् दुःख–सुख आदि के भोक्ता चारों प्रकार के सभी स्थूल शरीर समुदाय, इनके भोग्य पदार्थ अर्थात् अन्न पानादि तथा इसके आधारभूत भूः भुवः आदि चतुर्दश लोक और उन लोकों का आधारभूत ब्रह्मांड ये सभी अपने कारण रूप पंचीकृत महाभूतों में विलीन हो जाते हैं। तत्पश्चात् शब्द आदि विषयों से युक्त पंचीकृत तथा सप्तदशावयव समस्त सूक्ष्म शरीर समुदाय अपने कारण रूप पंचीकृत महाभूतों में विलीन हो जाता है।

सत्वादि गुणों के साथ वे सभी अपंचीकृत महाभूत उत्पत्ति के विपरीत क्रम से अपने कारणभूत अज्ञानोपहित चैतन्य मात्र में विलीन होकर तन्मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं। यह अज्ञान तथा अज्ञानोपहित सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टचैतन्य ईश्वरादि अपने आधारभूत अनुपहित चैतन्यरूप तुरीय ब्रह्म में लीन हो जाता है। अर्थात् पंच भूतों की उत्पत्ति का जो क्रम कहा गया है उसके विपरीत क्रम से यथा पृथ्वी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में विलीन हो जाता है और आकाश अव्यक्त माया शक्ति में लय हो जाता है तथा अव्यक्त पुरुष परम ब्रह्म में लीन हो जाता है।

यह अज्ञानोपाधि से उपहित चैतन्य और ईश्वर आदि अपनी उत्पत्ति के आश्रयभूत उपाधि रहित शुद्ध चैतन्य तुरीय ब्रह्ममात्र हो जाते हैं अर्थात ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।

विशेष विवेचन : भोगायतन का तात्पर्य है यह शरीर। सुख एवं दुःख की अनुभूति की भोग कहलाती है और इस सुख और दुःख की अनुभूति करने का स्थान भोगायतन कहलाता है। इस भोग की उपलब्धि स्थूल आदि शरीरों में ही होती है अतः स्थूलादि शरीर भोगायतन कहलाते हैं।

चतुर्विध शरीर का परिचय आप पूर्व पाठ में प्राप्त कर चुके हैं। ये चतुर्विध शरीर हैं जरायुज, अंडज, स्वेदज तथा उद्भिज। चतुर्दश भुवन का विवेचन भी आप पिछली इकाईयों में पढ चुके हैं। पंचीकृत महाभूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तप तथा सत्यम् नामक सप्त उर्ध्व लोक प्रादूर्भूत होते हैं तथा अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल नामक सप्त अधो लोक प्रादूर्भूत होते हैं। उत्पत्ति का व्युतक्रम अर्थात् विपरीत क्रम से पृथ्वी आदि का परब्रह्म में विलीन हो जाना ही है। महाभारत में उल्लेख है –

'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे, पृथिव्याप्सु प्रलीयते।
ज्योतिंष्यापः प्रलीयन्ते, ज्योतिर्वायो प्रलीयते।।
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्किले सम्प्रलीयते।।

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति।तथाहि –
अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं ....
तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति।एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थोभवति।
अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति।एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति।

व्याख्या : इस प्रकार इन दोनों अध्यारोप तथा अपवाद से 'त्वम्' तथा 'तत्' पदों का तात्पर्य भी स्पष्ट हो जाता है। वह इस प्रकार है कि अज्ञान आदि समष्टि तथा इससे उपहित सर्वज्ञ होने के कारण विशिष्ट चैतन्य एवं उसकी उपाधि से रहित शुद्ध चैतन्य यह तीनों तपे हुए लोहे के खंड के तुल्य एकता अवभासित होने के कारण 'तत्' पद का वाच्यार्थ अभिधा शब्दशक्ति से प्राप्त होता है। इस उपाधि से युक्त उसका आश्रय भूत उपाधि रहित चैतन्य 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ लक्षणा शब्द शक्ति से प्राप्त होता है।

अज्ञान आदि की व्यष्टि उस की उपाधि से संपन्न अल्पज्ञत्व आदि विशेषण से विशिष्ट चैतन्य जीव तथा उस की उपाधि से शून्य, ये तीनों तपे हुए लौह पिंड के समान प्रतीत होने के कारण 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ अभिधा शब्द शक्ति से प्राप्त होता है। यह उपाधि तथा उसका आश्रय भूत उपाधि रहित चैतन्य आंतरिक आत्मानंद रूप तुरीयचैतन्य पद का लक्ष्यार्थ लक्षणा शब्दशक्ति से प्राप्त होता है।

तात्पर्य है कि अध्यारोप तथा अपवाद से यह स्पष्ट हो जाने पर कि संपूर्ण नामरूपात्मक संसार ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही यह सब नामरूप आत्मा जगत् है तो छांदोग्य उपनिषद में उद्दालक ऋषि के द्वारा श्वेतकेतु से कहे हुए 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' अर्थात् परब्रह्म शुद्ध चैतन्य और 'त्वम्' अर्थात् व्यष्टि रूप अज्ञानोपाधि युक्त चैतन्य का तात्पर्य भी स्वयं ही विदित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल की समष्टि तथा उस की उपाधि युक्त चैतन्य सर्वज्ञतादि विशिष्ट ईश्वर, सूत्रात्मा और वैश्वानर चैतन्य तथा इन की उपाधि से उपहित तुरीय चेतन है।

इन सब का 'तप्तायः पिंड' के समान एक रुप से अवभासित होना 'तत्' पद का वाच्यार्थ है तथा अज्ञानोपहित ईश्वर चैतन्य का आधारभूत जो अनुपहित चैतन्य उसका अज्ञान तथा तदवच्छिन्न ईश्वर चैतन्य से विविक्त होकर भिन्न–भिन्न अवभासित होना'

तत्' पद का लक्ष्यार्थ है इसी प्रकार अज्ञान तथा कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीरों की व्यष्टि एवं प्राज्ञ, तेजस तथा विश्व चैतन्य और तदनुपहित चैतन्य, इन तीनों का तप्तायः पिंड के समान अभेद विवक्षा में एक रुप से अवभासित होना 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है तथा व्यष्टिभूत जो अज्ञानादि एवं तदुपहित जीव चैतन्य तथा इनका आधारभूत जो अनुपहित प्रत्यगात्मा तुरीय चैतन्य, इन सब का भेद विवक्षा में अलग–अलग प्रतीयमान होना' त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

विशेष विवेचन : तात्पर्य यह है कि 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों में से प्रत्येक के दो दो अर्थ हैं। एक वाच्यार्थ दूसरा लक्ष्यार्थ। अज्ञान समष्टि तथा तदवच्छिन्न ईश्वर, हिरण्यगर्भ और वैश्वानर चैतन्य तथा इनसे अनुपहित जो अक्षर चिन्मात्र ये तीनों तप्तलौह पिण्ड के समान एक ही हैं। यह 'तत्' शब्द का वाच्यार्थ है तथा अज्ञान और उसके कार्यरूप समस्त प्रपंच को सत्ता तथा स्फूर्ति प्रदान करने वाली ईश्वर आदि चैतन्य की आधारभूत चेतन एवं आनंद स्वरूप अनुपहित चैतन्य वस्तु 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार व्यष्टिभूत अज्ञान तथा तदवच्छिन्न अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट जो प्राज्ञ, तेजस एवं विश्वचैतन्य और इनका आधारभूत जो अनुपहित चैतन्य में ये तीनों तप्त लौह पिण्ड के समान एक ही हैं, यही 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है तथा अज्ञान आदि उपाधियों से उपहित जो प्राज्ञ, तेजस और विश्व तथा इनका आधारभूत जो अनुपहित प्रत्यगानंद तुरीय चैतन्य ये अलग है; यह 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार अनुपहित चैतन्य अर्थात् शुद्ध चैतन्य 'तत्' तथा 'त्वम्' इन दोनों पदों का लक्ष्यार्थ है, इसी कारण 'तत्' तथा 'त्वम्' ये दोनों लक्षण हैं और शुद्ध चैतन्य लक्ष्य है।

13.4 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ है कि वेदान्त का लक्ष्य सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणीमात्र में इस महाप्रपंच में तथा उस अखंड चैतन्य में एकत्व प्रतिपादित कर भेददृष्टि को परिष्कृत करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु विविध युक्तियों के माध्यम से इस तथ्य को यहां स्पष्ट किया गया।वस्तु एकमात्र ब्रह्म है तथा यह महाप्रपंच अवस्तु है। वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप है, इस अध्यारोप को दूर कर तत्वज्ञान कराना अपवाद है। अतिप्राकृतों ने पुत्र को आत्मा कहा, जबकि देहात्मवादी चार्वाकों ने शरीर को आत्मा कहा। कुछ चार्वाकों ने इन्द्रिय को आत्मा कहा, कुछ चार्वाकों ने प्राण को आत्मा कहा। बौद्धों के योगाचारसम्प्रदाय ने विज्ञान को आत्मा कहा, और बौद्धों के माध्यमिकसम्प्रदाय ने शून्य को आत्मा कहा। प्रभाकर के मतानुयायी मीमांसकों ने अज्ञान को आत्मा माना। कुमारिलभट्ट के मतानुयायी मीमांसकों ने अज्ञानोपाधि युक्त चैतन्य को आत्मा कहा।

इस सभी मतों का खंडन करते हुए यह सिद्ध किया गया कि ये सभी मत आत्मा के स्वरूप विवेचन में क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा है, इन सभी मतों को पृथक् – पृथक् न देखते हुए इन सबका पर्यवसान नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य आंतरिक चैतन्य में ही है। वेदान्त के मत में यह जगत ब्रह्म का विवर्त है। तत्त्वमसि महावाक्य में 'तत्' तथा 'त्वम्' ये दोनों लक्षण हैं और शुद्ध चैतन्य लक्ष्य है।

13.5 शब्दावली

1. ब्रह्म – (बृंह्+मनिन्) एकमात्र नित्य चेतन निर्गुण निराकार सत्ता।
2. अल्पज्ञत्व – (अल्प+ज्ञ+त्व (भावे) कम जानने का भाव।

3. सर्वज्ञत्व –(सर्व+ज्ञ+त्व (भावे) सब जानने का भाव।
4. चैतन्यम् –(चेतन+ष्यञ् चेतनायाः भावः) परमात्मा, जो सभी प्राणियों का मूलतत्त्व तथा संवेदनाओं का स्रोत है।
5. अध्यारोप –(अधि+आ+रुह्+णिच्+पुक्+घञ्) भ्रमवश एक वस्तु को अन्य वस्तु समझना, भ्रान्तिपूर्वज्ञान।
6. अपवाद– (अप+वद्+घञ्) सामान्य नियम को बाधित करने वाला विशेष नियम।
7. तुरीय – चतुर्थ।
8. अखण्ड –(खण्ड्+घञ्, न खण्डः अखण्डः) सम्पूर्ण जिसका खण्ड न हो।
9. माया – (मा+य+टाप्) अवास्तविक, एक प्रकार की भ्रान्ति जिसके कारण मनुष्य जगत् को परमात्मा से भिन्न तथा वास्तविक जानता है। पंचदशी के अनुसार माया ईश्वर की उपाधि है।
10. कारण शरीर – कारण (कृ+णिच्+ल्युट्), शरीर (शृ+ईरन्) जड चेतन पदार्थों की काया, देह। अविद्या निर्मित अवतरण ही कारण शरीर है, सृष्टि के प्रथम चरण में जीव कारण शरीर के आश्रित रहता है। आनन्द की प्रचुरता से यह आनन्मय कोष कहलाता है।
11. सूक्ष्म शरीर – सूक्ष्म (सूक्+मन्+सुक् च नेट्) महीन, आणविक। सूक्ष्म शरीर पंचप्राण, पंचकर्मेन्द्रियों, पंचज्ञानेन्द्रियों, मन तथा बुद्धि इन 17 अवयवों का समूह है। स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर नवीन स्थूल शरीर की प्राप्ति तक जीव सूक्ष्म शरीर के आश्रित रहता है।
12. स्थूल शरीर –स्थूल (स्थूल+अच्) बृहत्, विशाल, मोटा। माता–पिता द्वारा भुक्त अन्न से इसकी उत्पत्ति होती है जो भौतिक तथा नश्वर है।
13. व्यष्टि – (वि+अश्+क्तिन्) वैयक्तिकता, एक अंश।
14. समष्टि – (सम्+अश्+क्तिन्) समुच्चयात्मक व्याप्ति।
15. उपहित – (उप+धा+क्त) उपाधि से युक्त।
16. अनुपहित – (न+उप+धा+क्त) उपाधि रहित।
17. पप्रंच – (प्र+पचि–व्यक्तीकरणे घञ्)दृश्यमान् जगत् जो केवल माया और नानात्व का प्रदर्शन करता है।
18. विकार – (वि+कृ+घञ्) प्रकृति का परिवर्तन, रूपान्तरण।
19. विवर्त – (वि+वृत्+घञ्) अविद्या से उत्पन्न मिथ्या रूप।
20. विवक्षा – (विच्+सन्+अ+टाप्) बोलने की इच्छा।
21. विशेषण – (वि+शिष्+ल्युट्) वह शब्द जो किसी दूसरे शब्द की विशेषता प्रकट करता है।
22. अभिधा – (अभि+धा+अङ्+टाप्) शब्द की मुख्य शक्ति।
23. लक्षणा – (लक्षण+टाप्) शब्द की गौणी वृत्ति जो मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर मुख्यार्थ योग तथा रूढि अथवा प्रयोजनवशात् अर्थ व्यक्त करती है।
24. लक्ष्य – (लक्ष्+ण्यत्) जानने योग्य, उद्देश्य।
25. लक्षण – (लक्ष्+ल्युट्) भेद बोधक चिह्न, विशेषता।
26. अवच्छिन्न – (अव+छिद्+क्त) किसी विशेषण से युक्त।

27. ईश्वर – (ईश्+वरच्) अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य, कारण शरीर, आनन्दमयकोश तथा सुषुप्ति अवस्था।
28. सूत्रात्मा – अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य, सूक्ष्म शरीर स्वप्नावस्था, प्राणमय मनोमय तथा विज्ञानमय कोश की सम्मिलित अवस्था।
29. वैश्वानर – (विश्वानर+अण्)–अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य, जागृत अवस्था, स्थूल भोगों का आश्रय, अन्नमय कोश।
30. प्राज्ञ – (प्र+ज्ञा+क = प्राज्ञ – ततः स्वार्थे अण्) अज्ञान की व्यष्टि से उपहित, कारण शरीर आनन्दमय कोश तथा सुषुप्ति अवस्था।
31. तैजस – (तेजस्+अण् अज्ञान की व्यष्टि से उपहित सूक्ष्म शरीर, स्वप्नावस्था, प्राणमय–मनोमय तथा विज्ञानमय कोश की सम्मितित अवस्था।
32. विश्व –(विश+व्) अज्ञान की व्यष्टि से उपहित चैतन्य, जागृत अवस्था, स्थूल भोगों का आश्रय, अन्नमयकोश।

13.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- वेदान्तसार, सदानन्दयोगीन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (उ.प्र.) 2018।
- भारतीयदर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदामन्दिर, वाराणसी (उ.प्र.) 2001।
- वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (उ.प्र.) 2010।
- विवेकचूडामणि, आद्यशंकराचार्य, गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.) 2018।

13.7 अभ्यास प्रश्न

1. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य की अभिधा तथा लक्षणा की दृष्टि से व्याख्या कीजीये ?
2. आत्मा के स्वरूप के विषय में मीमांसकों का मत स्पष्ट कीजिये।
3. आत्मा के स्वरूप के विषय में अतिप्राकृतों का मत स्पष्ट कीजिये।
4. आत्मा के स्वरूप के विषय में चार्वाकों का मत स्पष्ट कीजिये।
5. आत्मा के स्वरूप के विषय में बौद्धों का मत स्पष्ट कीजिये।
6. वेदान्त मत में आत्मा का स्वरूप स्पष्ट कीजिये।
7. अध्यारोप तथा अपवाद को परिभाषित कीजिये।
8. विवर्तवाद तथा विकारवाद क्या है?
9. वेदान्तानुसार प्रलय प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिये।
10. 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' तथा श्त्वम्' पदों का वाच्यार्थ क्या है?
11. 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों का लक्ष्यार्थ क्या है?

इकाई 14 महावाक्यार्थ विचार

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- वेदान्तसार में वर्णित महावाक्यार्थविचार निरूपण को स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे।
- तत्त्वमसि इस महावाक्य के पद एवं अर्थ को जान सकेंगे।
- नए पदों की प्रकृति एवं प्रत्यय को जान सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

अनुबन्ध–चतुष्टय विवेचन के प्रसंग में आपको यह ज्ञात हो चुका है कि वेदान्तसार का विषय जीव और ब्रह्म का ऐक्य है। जीव के अल्पज्ञत्व तथा ब्रह्म के सर्वज्ञत्व, इन विरुद्ध धर्मों से विमुक्त शुद्ध चैतन्य का ज्ञान ही वेदान्त–वाक्यों का लक्ष्य है। जीव ब्रह्मैक्य के प्रतिपादक उपनिषत् वाक्यों का बोध्य–बोधक भाव सम्बन्ध कहा गया है जो कि तृतीय अनुबन्ध है। इसके अनुसार जीवब्रह्म का अभेद बोध्य है तथा तत्त्वमसि आदि बोधक वाक्य है। चतुर्थ अनुबन्ध प्रयोजन है जिसे भी आप जानते हैं कि जीवब्रह्मैक्य ज्ञान के मध्य अज्ञान निवृत्तिपूर्वक आत्मा को स्वरूपानन्द की प्राप्ति होना ही वेदांत का प्रयोजन है अर्थात् जीवब्रह्मैक्य ज्ञान की प्राप्ति हेतु साधन–चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी, सम्बन्ध तथा विषय को जानकर जिस प्रयोजन की प्राप्ति के लिए गुरु की शरण में उपस्थित होता है, वह प्रयोजन महावाक्य विवेचन से पूर्णता को प्राप्त होता है। सामान्यतः महावाक्य का तात्पर्य है, उपनिषदों के वे गूढ वाक्य जो अपने लघु स्वरूप में महान् अर्थ को संचित किये हुये है। अध्यारोपापवादन्याय से गुरु जब वेदान्त के अधिकारी को अनन्त सृष्टि के अद्भुत रहस्यों का साक्षात्कार कराते हुए विवेक–मार्ग पर प्रेरित कर देते हैं तब महावाक्यों के प्रवचन के माध्यम से निर्गुण निर्विकार, सर्वज्ञ ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व की सिद्धिपूर्वक जीवात्मा के दिव्य स्वरूप का बोध कराते हैं। इन महावाक्यों से साधक को यह बोध होता है कि मनुष्य केवल ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, अन्तःकरण तथा स्थूलदेह का संघटन मात्र सामान्य तत्त्व नहीं है, अपितु अपने मूल स्वरूप में वह भी जगत् का द्रष्टा तथा उसी परमतत्त्व का अंश है। प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों में द्वादश आत्मोपदेश महावाक्यों को देने की प्रतिज्ञा की गई है। महावाक्यविवरण नामक ग्रन्थ में एकादश महावाक्य दिये गये हैं, इनमें भी चार महावाक्य अतिप्रसिद्ध है जो प्रत्येक वेद से गृहीत है। ये चार महावाक्य इस प्रकार हैं–

1. प्रज्ञानं ब्रह्म।। ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् 3/1/3
2. अहं ब्रह्मास्मि।। यजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् 1/4/10
3. तत्त्वमसि।। सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् 6/8/7
4. अयमात्मा ब्रह्म।। अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् 1/2

इन चार वाक्यों में भी साक्षादुपदेश होने के कारण 'तत्त्वमसि' की उपदेश–वाक्य के रूप में वेदान्त–मार्ग में महती प्रसिद्धि है। 'अहं ब्रह्मास्मि' को अनुभववाक्य कहा गया है। जिसका वर्णन आप अग्रिम इकाइयों में पढ़ेगें। प्रस्तुत इकाई में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ पर विचार किया जा रहा है। सुविदित है कि पदों के ज्ञानपूर्वक वाक्य का ज्ञान होता है अतः उक्त वाक्य के पदों, पदार्थों तथा उनमें परस्पर संबंधों के ज्ञानपूर्वक महावाक्यार्थ विचार सम्पन्न होता है। सदानन्द ने स्पष्ट किया है कि यह 'तत्त्वमसि' वाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्डैकार्थबोधक होता है। जिसमें किसी भी दशा में अंश–अंशीभाव सम्बन्ध का चिन्तन नहीं है अपितु जो स्वगत, सजातीय एवं विजातीय भेद शून्य होने के कारण माया तथा उसके कार्यों से सर्वथा सम्बन्ध रहित है वह निर्गुण ब्रह्म इस अखण्डार्थ का तात्पर्य है। 'तत्वमसि' वाक्य में तीन सम्बन्धों से अखण्डैकार्थ ब्रह्म का बोध ही महावाक्यार्थविचार है।

अधिकारी शिष्य जब गुरु से जीवात्मा तथा ब्रह्म विषयक प्रश्न करता है तब गुरु अध्यारोप तथा अपवाद विधि से उपदेश करते हुए आत्मस्वरूप का ज्ञान कराते हैं जिसे पूर्व इकाइयों में आपने जाना है। आत्मस्वरूप को स्पष्ट करते हुए नित्य शुद्धबुद्धमुक्त ब्रह्म तथा जीव का एकत्व प्रतिपादन करने हेतु तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का प्रवचन किया जाता है।

वेदान्तसार के अनुसार एक विषय का दूसरे विषय में भेद, ज्ञाता–ज्ञेय का भेद तथा जीव और ईश्वर का भेद, माया के द्वारा निर्मित है। सर्वत्र तत्त्व वस्तुतः एक ही है, अनेकत्व मिथ्या है। उपनिषदों में भी इसी जीव–ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। आत्मा तथा देह के संयोग से निर्मित प्रत्यक्ष शरीर भी अन्य भौतिक विषयों के ही समान माया की सृष्टि है, ऐसा ज्ञान होने पर आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं दिखाई देता। 'तत्त्वमसि' वाक्य यही उपदेश देता है कि जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न है अर्थात् दोनों में वस्तुतः अभेद सम्बन्ध है। ध्यातव्य है कि यदि 'त्वम्' पद से शरीर की उपाधि से युक्त प्रत्यक्ष जीव समझा जाए और 'तत्' पद से परोक्ष परम–तत्त्व या परब्रह्म का बोध हो तो 'तत्' और 'त्वम्' में अभेद सम्बन्ध नहीं बन सकता है, अतः 'त्वम्' पद से जीव का अधिष्ठान रूप शुद्ध चैतन्य और 'तत्' से परोक्ष तत्त्व का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य समझना चाहिए।

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य को स्पष्ट करने के लिए 'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् यही वह देवदत्त है, यह एक लौकिक दृष्टान्त देते हैं। इस वाक्य से ज्ञात होता है कि जिस देवदत्त को पूर्व में देखा जा चुका है उसे दूसरी बार देखा जा रहा है। प्रथम बार देखे गये देवदत्त में तथा द्वितीय बार दृष्ट देवदत्त में समान औपाधिक गुण नहीं है तथापि हम कहते हैं, यह वही देवदत्त है। अर्थात् तात्कालिक तथा एतत्कालिक इन दो विरूद्ध विशेषणों से रहित मनुष्य एक ही है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य से जीवात्मा और परमात्मा के विषय में यही एकता प्रतिपादित की गई है। 'त्वम्' पद के विशेषण है अल्पज्ञत्व, परोक्षत्व आदि तथा 'तत्' पद के विशेषण है सर्वज्ञत्व, परोक्षत्व आदि। इन विशेषणों से युक्त 'त्वम्' पद जीव का बोधक है तथा 'तत्' पद ब्रह्म का बोधक है। दोनों पदों के

ये विशेषण विरूद्धार्थक है। इन दोनों विरूद्धांशों का त्याग कर दोनों में निहित शुद्ध चैतन्य का ग्रहण करते हुए जीव और ब्रह्म दोनों का अभेद सिद्ध होता है। जीव और ब्रह्म आपाततः भिन्न प्रतीत होते हुए भी यथार्थतः अभिन्न है। अनन्त आत्मा सीमित जीवात्मा की तरह भासित होता है उसका कारण अज्ञान है। स्वतः प्रकाश, अनन्त चैतन्य स्वरूप परमात्मा तथा आत्मा वस्तुतः एक ही हैय इसी तादात्म्य का ज्ञान कराना ही तत्त्वमसि महावाक्य का तात्पर्य है, जिसे आप प्रस्तुत इकाई में जानेंगे।

14.2 महावाक्यार्थविचार – अथ महावाक्यार्थो से तदपि भासतीति पर्यन्त (50-59)

'अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं तत्त्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषण–विशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तदुक्तम्

> 'सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता।
> लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्।। ' इति

व्याख्या : अब महावाक्य का वर्णन किया जा रहा है। यह 'तत्त्वमसि' वाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्डैकार्थबोधक होता है। पदों में समानाधिकरण्य, पदार्थों में विशेषण विशेष्यभाव तथा आन्तरिक आत्मलक्षण पदों में लक्ष्यलक्षणभाव ये तीन सम्बन्ध हैं। कहा भी गया है – 'आन्तरिक आत्मा के पदों तथा उनके अर्थों में समानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव और लक्ष्यलक्षणभाव ये तीन सम्बन्ध हैं।

विशेष विवेचन : सदानन्द ने महावाक्यार्थविचार से पूर्व 'तत्त्वमसि' वाक्य में प्रयुक्त पदार्थों का निरूपण किया है क्योंकि वाक्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करने हेतु पदार्थों का ज्ञान होना आवश्यक है अतः 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में प्रयुक्त 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों का अर्थ ज्ञान करना अपेक्षित है। अध्यारोप तथा अपवाद से 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। एतदर्थ दोनों पदों का वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ जानना आवश्यक है। सदानन्द तत् पद का वाच्यार्थ कहते हैं –

अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदुपहितं चौतत्तरयं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति।'

अर्थात् – अज्ञान, कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल की समष्टिय समष्ट्युपाधि युक्त चैतन्य सर्वज्ञतादि विशिष्ट ईश्वर सूत्रात्मा तथा वैश्वानर चैतन्य तथा उपाधि रहित शुद्ध चैतन्य, इन तीनों का तप्त लौह खण्ड के समान एक रूप अवभासित होना ही अभिधा शब्द शक्ति से प्राप्त तत् पद का वाच्यार्थ है।

'तत्' पद का लक्ष्यार्थ कहते हैं –

'एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति।' अर्थात् अज्ञानावच्छिन्न ईश्वर चैतन्य का आश्रय अनुपहित चैतन्य तत्पद का लक्ष्यार्थ है अर्थात् अज्ञान और उसके कार्यरूप समस्त प्रपंच की सत्ता ईश्वरादि चैतन्य का आधार आनन्दस्वरूप उपाधिशून्य चैतन्य वस्तु का, भेद विवक्षा में भिन्न–भिन्न अवभासित होना ही तत् पद का लक्ष्यार्थ है।

इसके पश्चात् सदानन्द 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ स्पष्ट करते हैं –

'अज्ञानादिव्यष्टिरेतदनुपहिताल्पज्ञत्वादि विशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चौतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति।।

अर्थात् अज्ञान की व्यष्टिय कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की व्यष्टि अर्थात् अज्ञानावृत अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट प्राज्ञ, तैजस् तथा विश्वचैतन्य तथा इनका आधार स्वरूप अनुपहित चैतन्य तीनों का तप्त लौहपिण्ड के समान अभेद विवक्षा से एक रूप में प्रतीत होना अभिधा शक्ति से प्राप्त 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है। 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ कहते हैं –

'एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पद लक्ष्यार्थो भवति।'

अर्थात् व्यष्टिभूत अज्ञान; अज्ञानादि उपाधियों से युक्त प्राज्ञ, तैजस् तथा विश्वरूप जीवचैतन्य तथा इनका आधार स्वरूप अनुपहित प्रत्यगानन्द तुरीय चैतन्य इन सभी का, भेद विवक्षा में भिन्न–भिन्न अवभासित होना लक्षणा शब्द शक्ति से प्राप्त 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

इस प्रकार तात्पर्य यह है कि 'तत्' तथा 'त्वम्' इन दोनों पदों का लक्ष्यार्थ अनुपहित अर्थात् शुद्ध चैतन्य है अतः तत् और त्वम् ये दोनों पद लक्षण है तथा शुद्ध चैतन्य लक्ष्य है।

उक्त विवरण को अधोलिखित रूप से सरलता से समझा जा सकता है –

क) तत् : वच्यार्थ – समष्टि भूत अज्ञान+ईश्वर, सूत्रात्मा तथा वैश्वानर+ अनुपहित शुद्ध चैतन्य+तप्तायः पिण्ड के समान तीनों की एकता।

लक्ष्यार्थ –अज्ञानावछिन्न ईश्वर के आश्रय अनुपहित चैतन्य का भेद विवक्ष्य में पृथक्–पृथक् प्रतीत होना।

ख) त्वम्: वाच्यार्थ –व्यष्टि भूत अज्ञान+अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य अर्थात प्राज्ञ, तैजस् तथा विश्व+अनुपहित शुद्धचैतन्य+तप्तायः पिण्ड के समान तीनों का एकत्व।

लक्ष्यार्थ – अज्ञानावछिन्न ईश्वर चैतन्य के आश्रय अनुपहित तुरीय चैतन्य का भेदविवक्षा में भिन्न–भिन अवभासित होना।

सम्प्रति प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव तथा ब्रह्म दोनों तो विरुद्ध धर्मों से युक्त हैं जीव अल्पज्ञ तथा अणु है तो ब्रह्म सर्वज्ञ तथा विभु है तब दोनों के एकत्व की सिद्धि किस प्रकार सम्भव है ?

'तत्वमसि' इत्यादि वाक्य परस्पर विरुद्धार्थक होने के कारण अखण्डैकरस ब्रह्म का प्रतिपादन कैसै कर सकते हैं, इसका निराकरण करने हेतु त्रिविध सम्बन्धों तथा लक्षणा का विवेचन करते हैं।ये तीन सम्बन्ध हैं –

1. पदों का अर्थात् 'तत्' और 'त्वम्' पदों का सामानाधिकरण्य;
2. पदार्थों का अर्थात् 'तत्' पदार्थ परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य और 'त्वम्' पदार्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य का विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध;
3. परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वविरुद्धांश से रहित 'तत्' और 'त्वम्' पदों का या पदार्थों का अविरुद्ध चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध।

(2) 'समानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायं शब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च 'तत्त्वमसीति' वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्ष त्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चौकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः''

व्याख्या : सर्वप्रथम समानाधिकरणसम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं, यथा 'यह वह देवदत्त है' इस वाक्य रचना में तत्काल विशिष्ट देवदत्त बोधक 'स' (वह) इस पद का तथा एतत्काल विशिष्ट देवदत्त के वाचक 'अयम्' (यह) शब्द का इस पिण्ड से तात्पर्य बोधक होता है, वैसे ही 'वह तू है' इस वाक्य में भी परोक्षादि होने के कारण तथा विशिष्ट चैतन्य का अवभासक 'तत्' (वह) पद का और अपरोक्षतादि युक्त विशिष्ट चैतन्य ज्ञापक त्वम् (तू) पद का एक चैतन्य में तात्पर्य एवं बोधक सम्बन्ध समानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

विशेष विवेचन : समान आश्रय में रहने वाले दो पदों का सम्बन्ध अर्थात् पृथक्–पृथक् अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यबोध कराने वाला सम्बन्ध समानाधिकरण्य सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'तत्' (सः) पद तत्काल– तद्देश विशिष्टरूप अर्थ कहता है तथा 'अयं' शब्द एतत्काल – एतद्देश विशिष्टरूप अर्थ को कहता है। इन दोनों पदों का तात्पर्य देवदत्त पिण्डरूप एक ही अर्थ को प्रकट करना है, अतः इस तात्पर्य का अवबोध कराने वाला सम्बन्ध समानाधिकरण्य सम्बन्ध हुआ।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद का अर्थ परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टरूप है तथा 'त्वम्' पद का अपरोक्षत्व किञ्चिज्ज्ञत्वादि विशिष्टरूप (अल्पज्ञत्वादि विशिष्टरूप) अर्थ है किन्तु इन दोनों पदों का तात्पर्य एक ही चैतन्यरूप अर्थ का अवबोध कराने में है। अतः यहाँ इस तात्पर्य का अवबोधक सम्बन्ध समानाधिकरण्य सम्बन्ध है। अर्थात् 'तत्' तथा 'त्वम्' दोनों पद समानाधिकरण्य सम्बन्ध से एक ही अखण्डार्थ ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इसे इस तरह समझा जा सकता है –

(तत्काल–तद्देशविशिष्टः)	सः देवदत्तः
(एतत्काल–एतद्देशविशिष्टः)	अयम्
(परोक्षत्व सर्वज्ञत्वादि विशिष्टरूप)	तत्
(अपरोक्षत्व अल्पज्ञत्वादि विशिष्टरूप)	त्वम् अखण्डार्थ ब्रह्म

'विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायं शब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्त्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।'

व्याख्या : विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं, यथा उसी वाक्य में (यह देवदत्त है में) तत्कालवर्ती विशिष्ट देवदत्त के बोधक 'तत्' पद का तथा 'एतत्' (वर्तमान) काल स्थित विशिष्ट देवदत्त का परस्पर भेदभाव होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है। उसी भांति यहां भी 'तत्वमसि' वाक्य में (तत्) शब्द का

अर्थ परोक्षादि से विशिष्ट चैतन्य का तथा 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्ष होने के कारण विशिष्ट चैतन्य में और परस्पर अभिन्न होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है।

विशेष विवेचन : दो शब्दों के अर्थों के मध्य विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध हो सकता है। जो शब्द अन्य शब्द को किसी वैशिष्ट्य से अन्य शब्दों से व्यावृत्त कर देता है, उसे विशेषण कहते हैं तथा जो शब्द व्यावृत्त हो जाता है वह विशेष्य कहलाता है। विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से भी 'तत्त्वमसि' वाक्य अखण्डार्थ ब्रह्म का ही प्रतिपादक है। यहाँ 'सोऽयं देवदत्तः' इस उदाहरण के माध्यम से सिद्ध करते हैं कि इस वाक्य में 'अयं' शब्द वाच्य जो एतत्काल एतत् देश विशिष्ट देवदत्त है वह 'सः' इस 'तत्' शब्द वाच्य तत् काल, तद्देश विशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है जब इस प्रकार की प्रतीति या बोध होता है तो 'तत्' (सः) शब्द 'इदम्' (अयम्) का विशेषण है और 'इदम्' शब्द 'तत्' शब्द का विशेष्य है। अतः 'यह वही देवदत्त है' इस प्रकार का बोध तत्कालतद्देशविशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त को व्यावृत्त कर देता है।

इसी प्रकार तत्शब्दवाच्य–तत्काल–तद्देशविशिष्टदेवदत्त, इदं शब्दवाच्य एतत्काल–एतद्देशविशिष्ट देवदत्त से पृथक् नहीं है अर्थात् 'यही वह देवदत्त है' इस प्रकार की प्रतीति होने से 'अयम्' शब्द 'सः' शब्द का विशेषण है तथा 'सः' शब्द विशेष्य है। अर्थात् परस्पर भेद व्यावर्तक होने से 'सः एवायम्' 'अयमेव सः' इस प्रकार 'सः' तथा 'अयम्' दोनों एक दूसरे के विशेषण विशेष्य होकर विशेषण विशेष्य भावसम्बन्ध से देवदत्त पिण्डरूप एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'त्वम्' पदवाच्य अपरोक्षत्व किञ्चिज्ज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य 'तत्' पदवाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं है, जब ऐसा बोध होता है तो तत् शब्दार्थ त्वंपदार्थनिष्ठ भेद का व्यावर्तक होने के कारण विशेषण है तथा 'त्वम्' पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है।

'तत्' पदवाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य, 'त्वम्' पदवाच्य अल्पज्ञत्वादि विशिष्टचैतन्य से भिन्न नहीं, जब यह प्रतीति होती है तब 'त्वम्' पदार्थ तत्पदार्थनिष्ठ भेद का व्यावर्तक होने के कारण विशेषण है तथा तत्पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है। इस विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से 'तत्' तथा 'त्वम्' ये दोनों पद अखण्ड चैतन्य रूप एकार्थ बोधक होने के कारण 'वही तू है', 'तू ही वह है' ऐसी प्रतीति कराते हैं। इस सम्बन्ध को इस प्रकार समझा जा सकता है –

	विशेष्य	विशेषण
वह यही देवदत्त है	सः	अयम् देवदत्तः
यह वही देवदत्त है	अयम्	सः
वह तू है	तत्	त्वम्
		अखण्डचैतन्य ब्रह्म
तू वह है	त्वम्	तत्

''लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु तथा तत्रैव वाक्ये स शब्दार्थशब्दयोस्तदर्थयोर्वा
विरुद्धतत्कालैतत्काल विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः।
तथाऽत्रापि वाक्ये तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा
विरुद्धपरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते।''

व्याख्या : अब यहां लक्ष्यलक्षणभाव को स्पष्ट करते हैं, यथा यह देवदत्त है वाक्य में स (वह) पद तथा उनके पदार्थों में एक दूसरे से विरुद्ध तत् और एतत्कालवर्ती वैशिष्ट्य को छोड़कर सदृश देवदत्त के अंश से तात्पर्य को बोधित करता है वह लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। उसी भांति इस तत्वमसि वाक्य में भी तत् एवं त्वम् शब्दों तथा उनके अभिप्रायों में परस्पर विरोध परोक्षत्वापरोक्षत्वादि की विशिष्टता को छोड़कर विरोधी चैतन्य का ज्ञापनकर्ता ही लक्ष्य लक्षणभाव सम्बन्ध है। यही भाग लक्षणा कही जाती है।

विशेष विवेचन : लक्ष्यलक्षणभाव को भागलक्षणा भी कहते हैं। इसे समझने हेतु लक्षणा का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है। लक्षणा का ज्ञान प्राप्त करने हेतु शब्द शक्ति को सामान्य रूप से समझ लेना चाहिए कि प्रायः शब्द की त्रिविध शक्तियों, वृत्तियों या व्यापार का वर्णन काव्यशास्त्रादि में प्राप्त होता है – अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना। शब्द के मुख्यार्थ, अभिधेयार्थ, वाच्यार्थ या सङ्केतितार्थ का बोध कराने वाला शब्द का मुख्य व्यापार अभिधा कहलाता है किन्तु जब वाक्य में स्थित पदों से मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होती है वहाँ रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी प्रयोजन विशेष के प्रतिपादन हेतु मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। उसी अन्यार्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है तथा उसका बोधन कराने वाली शक्ति को लक्षणा कहा जाता है। मम्मटविरचित काव्यप्रकाश में इसका लक्षण दिया गया है –

> 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
> अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया। (काव्यप्रकाश 2/9)

अभिधेयार्थ अर्थात् वाच्यार्थ या मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर ही लक्षणा होती है इसमें अभिधेयार्थ का योग कभी रहता है, कभी नहीं, कभी अंशत रहता है, कभी अंशतः नहीं भी रहता है। इस आधार पर वेदान्तशास्त्र में लक्षणा शब्द शक्ति के तीन भेद कहे गये हैं –

1. जहल्लक्षणा (जहत्स्वार्थावृत्ति/लक्षणलक्षणा)।
2. अजहल्लक्षणा (अजहत्स्वार्थावृत्ति/उपादान लक्षणा) तथा
3. जहदजहल्लक्षणा (जहत् – अजहत् स्वार्थावृत्ति/भागलक्षणा)

जिसमें अभिधेयार्थ (मुख्यार्थ) का योग नहीं रहता वह जहल्लक्षणा है। अर्थात् जहाँ वाक्य का कोई शब्द वाक्य में प्रयुक्त दूसरे शब्द के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है। वहाँ जहल्लक्षणा या लक्षणलक्षणा होती है।

काव्यप्रकाश में 'परार्थं स्वसमर्पणम्' कहकर इसे परिभाषित किया गया है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' में 'गंगा' शब्द अपना जल प्रवाह रूप मुख्यार्थ त्याग कर सामीप्यसम्बन्ध से तटरूप अर्थ का बोध कराता है। जिसमें अभिधेयार्थ का भी योग रहता है वह अजहल्लक्षणा अर्थात् जहाँ शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्यार्थ का आक्षेप कर लेता है तथा स्वयं भी बना रहता है। काव्यप्रकाश में 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' कहकर इसे परिभाषित किया गया है। यथा 'कुन्ताः प्रविशन्ति' में कुन्त (भाला) शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'पुरुष' शब्द का आक्षेप कर लेता है तथा है तथा कुन्तधारी पुरुष का बोधक हो जाता है।

जिसमें दोनों अर्थात् मुख्यार्थ योग रहता भी है तथा नहीं भी रहता है वह जहदजहल्लक्षणा कहलाती है। अर्थात् जब वाक्य में वाच्यार्थ के कुछ भाग को त्याग

दिया जाये तथा कुछ अंशतः ग्रहण कर लिया जाय। इसे तत्त्वमसि तथा सोऽयं देवदत्तः आदि उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। लक्षणा के त्रिविध भेदों की परिभाषा इस प्रकार है –

- जहल्लक्षणा / जहत्स्वार्थावृत्ति / लक्षणलक्षणा –
  वाच्यार्थम् अशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिनि अर्थान्तरे वृत्ति जहल्लक्षणा यथा गङ्गायां घोषः।
- अजहल्लक्षणा / अजहत्स्वार्थावृत्ति / उपादानलक्षणा –
  वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनिवृत्तिः अजहल्लक्षणा यथा कुन्ताः प्रविशन्ति।
- जहदजहल्लक्षणा / जहत्–अजहत्स्वार्थावृत्ति / भागलक्षणा–वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैक देशवृत्तिः जहदजहल्लक्षणा। यथा तत्त्वमसि। सोऽयं देवदत्तः

लक्षणा के तीनों भेदों को जानने के पश्चात् पुनः मुख्य विषय 'लक्ष्यलक्षण भाव सम्बन्ध' को जानते हैं। 'सोऽयं देवदत्तः' में तत्काल तद्देशविशिष्ट 'सः' (वह) पद तथा एतत्काल एतद्देशविशिष्ट 'अयं' (यह) पद विरुद्धार्थ परित्याग द्वारा, अविरुद्ध देवदत्तत्वविशिष्टदेवदत्त पिण्ड के साथ–साथ देवदत्तत्वविशिष्ट देवदत्तशब्द को लक्षित करते हैं। अतः इनका लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। प्रश्न यह है कि 'सः' शब्द का तत्कालतद्देशविशिष्टरूप अर्थ है और 'अयं' शब्द का तत्कालतद्देशविशिष्टरूप अर्थ है, अर्थात् ये दोनों तो विरुद्धार्थक है, जो तत्काल तद्देशविशिष्ट है वह एतत्काल एतद्देश विशिष्ट कैसे हो सकता है? किन्तु ये दोनों देवदत्तरूपी एक ही पिण्ड का ज्ञान कराते हैं तथा उस अर्थ का बोध कराने में इन दोनों पदों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है, क्योंकि 'सः' शब्द भी देवदत्तबोधक है तथा 'अयं' शब्द भी देवदत्त का ही बोध कराता है। अर्थात् तत्काल तद्देश एवं एतत्काल एतद्देशरूपविरुद्धांश का परित्याग यदि कर दिया जाये तो दोनों पद एक ही अर्थ देवदत्तपिण्डरूप के बोधक ही बन जाते हैं।

इस प्रकार इन दोनों के लक्ष्यलक्षण भाव की संगति बन जाती है और इस तथ्य की सिद्धि होती है कि 'सः' तथा 'अयम्' पद लक्षण है तथा अविरुद्ध देवदत्त पिण्ड 'लक्ष्य' है। इसे इस प्रकार जाने –

	लक्षण	लक्ष्य
(तत्काल–तद्देश बोधकः)	सः	देवदत्तः
(एतत्काल–एतद्देशबोधकः)	अयम्	

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के 'तत्' पद में निहित सर्वज्ञत्वादि तथा त्वम् पद में निहित अल्पज्ञत्वादिरूप विरुद्धांश का परित्याग कर दिया जाय तो दोनों पद अखण्डचैतन्यब्रह्म के बोधक बन जाते हैं तथा दोनों पदों में परस्पर लक्ष्यलक्षणभाव की संगति बन जाती है अर्थात् 'तत्' तथा 'त्वम्' पद लक्षण तथा अखण्डचैतन्य 'लक्ष्य' के रूप में सिद्ध होता है। यथा –

	लक्षण	लक्ष्य
(सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट)	तत्	अखण्डचैतन्य ब्रह्म
(अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट)	त्वम्	

यही भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा है जिसमें कुछ अंश का त्याग तथा कुछ अंश का ग्रहण कर लिया जाता है। चित्र के माध्यम से इसे अधिक सरलता समझा जा सकता है :

तत्	सर्वज्ञत्वादिविशिटि	चैतन्यम्	समानरूपधर्मी
त्वम्	अल्मज्ञत्वादिविशिष्ट	चैतन्यम्	

इन वाक्यो में 'तत्' पद में निहित सर्वज्ञत्वादि तथा त्वम् पद में निहित अल्पज्ञत्वादिरूप विरुद्धांश अर्थात् विरुद्ध विशेषणों का परित्याग कर दिया जाय तो ऐसा करने पर अर्थ हो जाता है –

तत् – चैतन्यम्
त्वम् – चैतन्यम्

अर्थात् दोनों ही पद अखण्ड चैतन्यार्थ के बोधक हो जाते हैं।

'अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवदाक्यार्थो न सङ्गछते। तत्र तु नीलपदार्थनील–गुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्लयपटादिभेदव्यावर्तकतयाऽन्योन्यविशेषणविशेष्य–भावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते। अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभाव–संसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे

प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते।तदुक्तम् –
संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।

व्याख्या : इस वाक्य में अर्थात् 'तत्वमसि' में 'नीलम् उत्पलम् 'अर्थात् नीला कमल इस वाक्य के सदृश वाक्य का अर्थ विशेषण विशेष्यभाव नहीं हो सकता। यहां पर 'नीलम् उत्पलम्' इस वाक्य में 'नील' शब्द का अर्थ 'नीला गुण' और 'उत्पलम्' शब्द का अर्थ 'उत्पल द्रव्य 'है। इन दोनों का शुक्ली भावादी गुणों तथा वस्त्रादि द्रव्यों से भिन्न होने के कारण एक दूसरे का विशेषणविशेष्यभाव संसर्ग है अथवा जो नील गुण विशिष्ट है, वही उत्पल है इस प्रकार इन दोनों का विशिष्टवाक्यार्थ अभिन्न है, दूसरे प्रमाणों – प्रत्यक्ष अनुमान आदि से विरोधाभास आ जाने से इस विषय में संसर्ग वाक्यार्थत्व को स्वीकार करने पर वाक्यार्थ संगत है।

यहां पर 'तत्' शब्द का अर्थ परोक्षतादि विशिष्टचैतन्य तथा 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्षतादिविशिष्टचैतन्य का अन्योन्याश्रय भेद के परस्पर पार्थक्य का कारण होने से विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से दूसरे 'नीलम् उत्पलम्' वाक्य के ऐक्य तथा वाक्यार्थ के स्वीकार होने पर प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों के विरोध होने के कारण वाक्यार्थ सम्भव नहीं हो सकता।

कहा गया है कि 'तत्वमसि' महावाक्य में भेदरूपसंसर्ग अथवा विशिष्ट अर्थात् अभेद रूप संसर्ग विशेषणविशेष्यभाव से वाक्यार्थ अर्थात् अभिधावृत्ति से ज्ञात होने वाला वाच्यार्थ सम्मत नहीं है। विद्वानों के अनुसार अखण्डैकरस अर्थात् भेदरहित आनन्दस्वरूप वस्तु मात्र के रूप में लक्षणाश्रय से उत्पन्न स्वगतादिभेदरहित वाक्यार्थ ही अभीष्ट है, और यही अभिन्न अर्थ इस महावाक्य 'तत्वमसि' में निहित है।

विशेष विवेचन : तात्पर्य यह है कि 'तत्वमसि' इस वाक्य में 'नीलम् उत्पलम्' इस वाक्य की तरह विशेषणविशेष्यभाव नहीं हो सकता क्योंकि 'नीलम् उत्पलम्' और

'तत्वमसि' इन दोनों वाक्यों में अंतर है। 'नीलम् उत्पलम्' में नील गुण है और उत्पल गुणी द्रव्य है, इन दोनों गुण–गुणी का विशेषणविशेष्यभाव संसर्ग या जो नील गुण विशिष्ट है वही उत्पल है। इस प्रकार इन दोनों का विशिष्ट वाक्यार्थ यदि स्वीकार कर लिया जाए तो कोई विरोध नहीं है। वहं संसर्ग या विशिष्ट वाक्यार्थ ठीक है, किंतु 'तत्वमसि' इस वाक्य में.'तत्' और 'त्वम्' यह दोनों द्रव्य है अतः यहां पर संसर्ग या विशिष्ट वाक्यार्थ संभव नहीं है क्योंकि 'तत्' पद का अर्थ है परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य में और 'त्वम्' पद का अर्थ है अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य, इस कारण दो द्रव्यों का विशेषणविशेष्यभाव रूप संसर्ग या जो नील गुण विशिष्ट, वही उत्पल की तरह जो परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य वही अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य है, इस प्रकार विशिष्ट वाक्यांश की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि जो 'तत्' पद वाच्य परोक्षत्वादिविशिष्टव सर्वज्ञ चैतन्य है वह 'त्वम्' पद वाच्य अपरोक्षत्वादिविशिष्ट अल्पज्ञ चैतन्य नहीं हो सकता। इस कारण पूर्वोक्त 'सामानाधिकरण्य' इत्यादि के द्वारा तत्वमसि यह महावाक्य अखण्डैकरस ब्रह्म का बोधक है। पंचदशीकार ने भी कारिका के माध्यम से इसी बात को स्पष्ट किया है।

'अत्र गङ्गायां घोषः प्रतिवसति इति वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते।तत्र तु गङ्गाघोषयोः

आधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते।अत्र तु परोक्षापरोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते।न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छत इति वाच्यम्।तत्र तीरपदाश्रयणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वंपदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात्।

व्याख्या : 'तत्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा का निराकरण करते हैं कि 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य के समान जहल्लक्षणा द्वारा भी वाक्यार्थ सम्मत नहीं है। वहाँ पर तो 'तत्वमसि' वाक्य में गंगा तथा घोष के आधाराधेयभाव का लक्षण होने के कारण संपूर्ण वाक्यार्थ भिन्न होने के कारण संपूर्ण वाक्यार्थ को परित्यक्त कर उससे गंगा शब्द से संबंधित तट विषयगत लक्षणा से युक्त होने के कारण जहल्लक्षणा उचित है।

किंतु यहां 'तत्वमसि' वाक्य में तो परोक्षत्व अपरोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य के एकत्व के बोधक वाक्यार्थ का भावमात्र में विरोध हो जाने से भी अन्य भाग में लक्षणा के अयुक्त होने के कारण जहल्लक्षणा असम्मत हो जाती है। जैसे 'गंगा' यह शब्द अपने अर्थ को छोड़कर तट शब्दार्थ की प्रतीति कराता है। उसी प्रकार यदि 'तत्' पद एवं 'त्वम्' पद अपने अर्थ को त्याग कर 'तत्' पद एवं 'त्वम्' पद स्वयम् के अर्थ की प्रतीति न करा सकने के कारण जहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती यह उचित नहीं है।

'गंगायां घोषः' इस वाक्य में तीर शब्द के न सुनाई देने के कारण व उसके अर्थ की प्रतीति न होने पर लक्षणा से उसकी प्रतीति की अपेक्षा होती है, 'तत्' पद एवं 'त्वम्' पदों के श्रूयमाण होने से उनके अर्थ की प्रतीति हो जाने पर लक्षणा से फिर एक पद द्वारा दूसरे शब्द का अर्थ बोध कराने की अपेक्षा नहीं होती ।

विशेष विवेचन : सदानन्द जहल्लक्षणा का निराकरण करते हैं तथा अंत में जहदजहल्लक्षणा का पक्ष स्थापित करते हैं। यह बात पहले ही सूचित की गई है कि 'तत्वमसि' यह वाक्य जहदजहल्लक्षणा के द्वारा अखंड चैतन्य का बोधक है।

जहल्लक्षणा को स्पष्ट करते हैं कि जहाँ पर पद अपने संपूर्ण अर्थ को छोड़कर अपने से संबद्ध किसी दूसरे अर्थ को सूचित करने लगता है वहाँ जहल्लक्षणा होती है। 'गङ्गायां घोषः' यहां पर गंगा शब्द का प्रवाहरूप अर्थ है किंतु उसमें घोष की स्थिति उपपन्न नहीं होती, अतः गंगा शब्द अपने मुख्यार्थ को सर्वथा त्याग कर सामीप्य संबंध से तीर का बोधक हो जाता है। इस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' यहां पर 'गंगायास्तीरे घोषः' यह अर्थ प्रकट करने के लिए जहल्लक्षणा मानना ठीक है, क्योंकि गंगा में घोष होना रूप जो वाक्यार्थ है, वह सर्वथा विरुद्ध है, किंतु यदि यह कहा जाए कि तत्पद वाच्य परोक्षत्वादिविशिष्टसर्वज्ञ चैतन्य, त्वम्पद वाच्य अपरोक्षत्वादिविशिष्टअल्पज्ञ जीव चैतन्य नहीं हो सकता, अतः 'गङ्गायां घोषः' की तरह यहां भी वाच्यार्थ अनुपपन्न है, इसलिए उसी तरह यहां भी 'तत्' पद की 'त्वम्' पद में तथा 'त्वम्' पद की 'तत्' पद में लक्षणा मान ली जाए जिससे कि दोनों पद अखण्डैकचैतन्यरूप अर्थ के बोधक हो जाए तो यह उचित नहीं है क्योंकि जहल्लक्षणा वहीं पर होती है जहाँ शब्द अपने मुख्य अर्थ को सर्वथा छोड़ देता है। यहां पर 'तत्' पद एवं 'त्वम्' पद अपने मुख्य अर्थ चैतन्य का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकते क्योंकि उसमें कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत् परोक्षत्वापरोक्षत्वादि रूप एक भाग में ही विरोध है और उस विरुद्ध वाक्यार्थ के साथ चैतन्य रूप अविरुद्ध वाक्यार्थ को भी त्याग कर लक्षणा मानी जाए ऐसा समुचित नहीं है। इसलिए 'तत्वमसि' यह वाक्य जहल्लक्षणा के द्वारा अखंड अर्थ जीवब्रह्मैक्य का प्रतिपादन नहीं कर सकता।

यदि यह कहा जाए कि जिस प्रकार गंगा पद अपने अर्थ का परित्याग कर के तीर पद के अर्थ को लक्षित करता है उसी प्रकार तत्पद अपने परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य रूप अर्थ को छोड़कर जीव चैतन्य का लक्षणा द्वारा बोध करें अथवा त्वम्पद अपने अल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्य रूप अर्थ को छोड़कर सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर चैतन्य को लक्षणा द्वारा बोधित करें, अतः जहल्लक्षणा कैसे नहीं हो सकती, तो यह प्रश्न ठीक नहीं क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' यहां पर तीर पद नहीं है अतः उसके अर्थ की प्रतीति न होने के कारण लक्षणा द्वारा काम चलाना पड़ता है, किंतु 'तत्वमसि' इस महावाक्य में 'तत्' पद एवं 'त्वम्' पद दोनों ही वर्तमान है अतः उनके द्वारा ही उनके अर्थ की भी प्रतीति हो रही है इसलिए लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ के बोध कराने की कोई आवश्यकता नहीं है।

नृसिंह सरस्वती ने अपनी टीका में लिखा है – 'श्रुतवाक्यस्य मुख्यार्थविरोधे मुख्यार्थसम्बद्ध– अश्रुतपदार्थे लक्षणेति सर्वजनसिद्धम्। 'अर्थात् श्रुतवाक्य के मुख्यार्थ में विरोध होने पर मुख्यार्थ से संबंध रखने वाले अश्रुत पदार्थ में लक्षणा होती है, यह लोक प्रसिद्ध है।

अत्र शोणो धावतीतिवाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति।तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव। न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वम्पदार्थं

तत्पदार्थं वा लक्षयत्यतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्।एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च।

व्याख्या : यहां तत्वमसि वाक्य में 'शोणो धावति' अर्थात लाल दौड़ता है इस वाक्य के समान अजहल्लक्षणा भी ठीक नहीं है वहाँ लाल गुण के गमन लक्षण वाक्यार्थ का विरोध हो जाने से उसके त्याग द्वारा उसके आश्रय भूत घोड़े आदि अर्थ लक्षणा से करने से उसकी अभिन्नता का निराकरण हो जाने के कारण अजहल्लक्षणा होती है।

यहां तत्वमसि वाक्य में परोक्षभाव तथा अपरोक्षभावादिविशिष्टचैतन्यों के एकत्व अभिन्न रूप वाक्यार्थ के विरोधी होने के कारण बिना उसका परित्याग किये उससे संबंधित जिस किसी अर्थ की लक्षणा से उपलब्धि हो जाने पर उसके अन्योन्य विरोध परिहार असंभव होने से अजहल्लक्षणा हो ही नहीं सकती।

यदि यह कहा जाए की तत्पद अथवा त्वम्पद स्वपदार्थ विरुद्धांश को छोड़कर उभयसामान्यांश सहित तत्वम तत्पद अथवा त्वम्पद के अर्थ को लक्षणा से प्रकट कर लिया जाए तो यह भी ठीक नहीं है। इस स्थान पर प्रकारांतर से भाग लक्षणा क्यों न स्वीकार कर ली जाए क्योंकि एक पद के द्वारा अपने पदार्थ को छोड़कर दूसरे पद में अभिन्नार्थ प्रतीति में लक्षणा संभव नहीं हो सकती तथा दूसरे शब्द के द्वारा वह अर्थ स्वयं प्रतीति हो जाने पर फिर लक्षणा द्वारा उसे पुनः प्रतीत कराने की अपेक्षा नहीं रह जाती।

विशेष विवेचन : सदानन्द जहल्लक्षणा का निराकरण करने के बाद अजहल्लक्षणा का निराकरण करते हैं। 'तत्वमसि' इस वाक्य में 'शोणो धावति' इस वाक्य की तरह अजहल्लक्षणा मानकर भी अर्थ की प्रतीति नहीं कराई जा सकती क्योंकि 'शोणो धावति' का अर्थ है लाल दौड़ता है किंतु यह लाल यह गुण है अतः उसका दौड़ना संभव नहीं इसलिए मुख्य अर्थ में विरोध होने के कारण तात्पर्य की उत्पत्ति के लिए 'शोण' शब्द की शोणगुणविशिष्ट अश्वादि में लक्षणा कर ली जाती है तब शोण शब्द अपने लाल रूप अर्थ को लिए हुए ही अजहल्लक्षणा द्वारा शोण गुण विशिष्ट अश्व आदि का बोधक होता है, इस प्रकार पूर्वोक्त विरोध नहीं रह जाता, किंतु तत्वमसि इस वाक्य में यह लक्षणा नहीं मानी जा सकती क्योंकि तत् पद का अर्थ है परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य और त्वम् पद का अर्थ है अपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य। ये दोनों चैतन्य अंश में एकत्त्व के प्रतिपादक होते हुए भी परोक्षत्वापरोक्षत्वादि रूप अर्थों में परस्पर विरुद्ध है इसलिए यदि अजहल्लक्षणा मानकर परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्ट तत् और त्वम्पदों के द्वारा केवल चैतन्यांशैकत्व की कल्पना भी की जाए तो परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्ट रूप भेद के बने ही रहने के कारण अभेद प्रतीति नहीं हो सकती और यदि अभेद प्रतीति न हुई तो लक्षणा मानने से कोई लाभ नहीं हुआ अतः यहां अजहल्लक्षणा नहीं मानी जा सकती।

यदि यह कहें कि तत् पद, त्वम्पद से विरुद्ध अपना जो परोक्षत्वादि धर्म है उसे छोड़कर अविरुद्ध अर्थात् उभयसामान्य जो चैतन्यांश है, उसको न छोड़ता हुआ त्वम्पद के अर्थ अल्पज्ञतादिविशिष्टजीवचैतन्य को लक्षणा के द्वारा बोधित करा सकता है और इसी प्रकार त्वम्पद यह तत् पद से विरुद्ध अपना जो अपरोक्षत्वादि धर्म है उसे छोड़कर अविरुद्ध अर्थात उभयसामान्य जो चैतन्यांश है, उसको न छोड़ता हुआ तत् पद के अर्थ सर्वज्ञतादिविशिष्टईश्वरचैतन्य को लक्षणा के द्वारा बोधित करा सकता है इसलिए यहां भाग लक्षणा स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं, ऐसा कथन उचित नहीं है क्योंकि

एक ही तत् पद या त्वम्पद परित्यक्त किए हुए अपने परोक्ष और अपरोक्ष रूप अर्थ को भी लक्षणा से सूचित करें और दूसरे पद के अर्थ को भी लक्षणा के द्वारा बोध करें ऐसी अभय लक्षणा नहीं हो सकती। 'शोणो धावति' में शोण शब्द अपने लाल अर्थ को भी प्रकट करें और लक्षणा से काले या नीले आदि दूसरे गुणों को भी द्योतित करें ऐसा नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त जब तत् पद तथा त्वम्पद पद दोनों वर्तमान हैं तो उन्हीं से अपने–अपने अर्थ हो कि स्वतः प्रतीति हो जाएगी, लक्षणा द्वारा दूसरे पद से दूसरे पद के अर्थ की प्रतीति कराने की कोई आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती।

तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्त 'इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्काल्विशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरूद्धंदेवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा 'तत्त्वमसीति 'वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थास्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्ष्यतीति।

व्याख्या : अतः जैसे 'सोऽयं देवदत्त' अर्थात् यह वही देवदत्त है यह वाक्य या उसका अर्थ तात्पर्यार्थ तत्काल एवं एतत्कालविशिष्ट देवदत्त वाक्यार्थांश में तात्कालिक एवं एतत्कालिक भाग में विशिष्ट देवदत्तांश में विरोध न होकर कालिक विरोध होने के कारण विरुद्ध अंश को त्यागकर अभिन्न देवदत्तपिंडमात्र को जहदजहल्लक्षणा बोधित करती है, उसी भांति 'तत्वमसि' वाक्य अथवा उसका वाक्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट ब्रह्म और अपरोक्षतादिविशिष्ट जीव लक्षण वाक्यार्थांश के परोक्ष एवं अपरोक्षत्वांश में विशिष्ट चैतन्यांश में विरोध न कर परस्पर विरोध को छोड़कर अखंड चैतन्यमात्र को जहदजहल्लक्षणा सूचित करती है।

विशेष विवेचन : उक्त अनुच्छेद में ग्रंथकार जहदजहल्लक्षणा की स्थापना करते हैं कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तीसरे प्रकार की लक्षणा (जहदजहल्लक्षणा या भागलक्षणा) से ही अखण्ड अर्थ का बोध होता है। इस लक्षणा में शब्द अपने अर्थ के कुछ अंश को छोडकर कुछ ही अंश का बोधक रह जाता है 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में (तत्) शब्द का अर्थ है तत्कालविशिष्ट देवदत्त और अयम् शब्द (इदम्) का अर्थ है एतत्कालविशिष्ट देवदत्त, यहां देवदत्तांश में कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत तत्कालीन और एतत्कालीन भाग में कालिक विरोध है, अतः यहां विरुद्धांश को छोड़कर अविरुद्ध देवदत्तपिण्डमात्र का बोध कराने के लिए जहदजहल्लक्षणा मानी जाती है। उसी प्रकार तत्त्वमसि इस वाक्य में तत्पद का अर्थ है परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (ब्रह्म) और त्वम्पद का अर्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (जीव) यहां चैतन्यांश में कोई विरोध नहीं किंतु परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व विशिष्ट अंशो में परस्पर विरोध है। इसलिए विरुद्धांशों को त्यागकर तत् और त्वम् पद अविरुद्ध अखण्ड चैतन्यमात्र को लक्षित करते हैं।

जब अधिकारी को पूर्वोक्त प्रकार से तत् और त्वम् अर्थात् ब्रह्म और जगत् का तादात्म्य ज्ञान हो जाता है तब उसकी स्थिति का वर्णन प्राप्त होता है –

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्त्येत तदैव हि ।1।
तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः श्रृणु ।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ।2।
प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यगबोधैकलक्षणः ।3।

पंचदशीकार विद्यारण्य स्वामी ने 'तत्त्वमसि 'इस महावाक्य का अर्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

'एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टे पुराऽधुनाऽप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते।1।
श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वम्–पदेरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्।2।

'अथाधुनाऽहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते।एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्त्वम्पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति।सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परब्रह्मविषयीकृत्य तद्‌गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति।तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयंप्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्वोपाधिभूताखण्डचित्त – वृत्तेर्बाधितत्वाद् दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति।

व्याख्या : यहां तक अखण्ड चैतन्य के प्रतिपादक 'तत्वमसि' इस उपदेश महावाक्य की विस्तृत व्याख्या की गयी। उक्त उपदेश को आत्मसात कर लेने पर साधक को 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव होता है। इस वाक्य की विस्तृत विवेचना का आरम्भ करते हुए कहते हैं कि, अब 'मैं ब्रह्म हूं' इत्यादि अनुभव वाक्यों का वाक्यार्थ वर्णित किया जा रहा है। इस प्रकार आचार्य, अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा तत्पद और त्वम्पद के अर्थों का शोधन करके वाक्य के द्वारा संपूर्ण अर्थात् अखंड अर्थावबोधन हो जाने पर 'मैं अधिकारी हूं', मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानंद, अनंत, अद्वयब्रह्म हूं इस प्रकार अखंडकाराकार चित्तवृति का उदय होता है।

वह चित्त के प्रतिबिंब से प्रतिबिंबित होती हुई अभिन्न प्रत्यग् अज्ञात, परब्रह्म विषयक अज्ञान का ही बाध नहीं करती है अपितु तब वस्त्र रूपी कार्य के कारण रूप सूत्रों के दाह होने पर वस्त्र दाह के तुल्य अखिल संसार के कारणभूत अज्ञान के बाधित हो जाने पर चित्तवृत्ति भी बाधित हो जाती है। चित्तवृत्ति में प्रतिबिंबित चैतन्य भी जैसे दिए का प्रकाश रवि के आलोक को अवभासित करने में असमर्थ होकर उससे अभिभूत होता है उसी भांति स्वयं देदीप्यमान प्रत्यग्, अभिन्न परब्रह्मावभासन में समर्थ न होने के कारण उससे पराभूत होकर अपनी उपाधिभूत खंडरहित चित्तवृत्ति को नष्ट करके दर्पण के न रहने पर मुख की छाया के मुख मात्र रह जाने के समान आंतरिक आत्मा से अभिन्न परब्रह्म मात्र ही होता है।

विशेष विवेचन : जब गुरु अध्यारोपापवादन्याय द्वारा जिज्ञासु को तत्त्वमसि के तत् ओर त्वम् पदार्थों को भली–भॉति समझा कर अखण्ड अर्थ को बोध करा देते हैं तब अधिकारी के हृदय में अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति उदय होती है कि में ही ब्रह्म हूँ। अब यह सन्देह होता है कि चित्तवृत्ति तो जड़ है, अतः जिस प्रकार दीपक का प्रकाश सूर्यमण्डल में नहीं व्याप्त हो सकता, उसी प्रकार जड़ चित्तवृत्ति भी स्वयंप्रकाश एवं नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा को अपना विषय बनाकर उदय नहीं हो सकती। इसका समाधान करते हैं कि वह चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती, अपितु वह अज्ञान–विशिष्ट प्रत्यगभिन्न विषयिणी होती है। जब उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता

है तब वह प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञानावरण को दूर कर देती है। अज्ञानावरण को दूर करना ही उसके उदय होने का प्रयोजन है।

प्रत्यक् चैतन्यगत परब्रह्म–विषयक अज्ञानावरण के दूर होते ही उसे यह अनुभव होने लगता है कि मैं ही नित्य शुद्धबुद्ध आदि स्वरूप ब्रह्म हूँ। अब सन्देह होता है कि अधिकारी जब तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों को सुनता है तो उसके तात्त्विक ज्ञान के अखण्ड चैतन्यवृत्ति के कारण प्रत्यक् चैतन्यगत अज्ञान भले ही नष्ट न हो जाय पर अज्ञान का कार्य जो सकल चराचर प्रपञ्च है, वह तो प्रत्यक्ष भासित होता ही रहेगा, अतः 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' की सिद्धि कैसे हो सकती है? इसका निवारण करते हैं कि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जाता है, उसी प्रकार यहां भी अज्ञान कारण है और चराचर प्रपंच कार्य है, इसलिए जब अज्ञानरूपी कारण नष्ट हो जायगा तो उसका कार्य चराचर प्रपंच भी नहीं भासित होगा। यदि यह कहें कि प्रपंच के नष्ट होने पर भी अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति तो अवशिष्ट रहेगी ही, अतः अद्वैतसिद्धि इस अवस्था में भी नहीं हो सकती, तो इसका उत्तर देतें है कि वह वृत्ति भी अज्ञान तथा उसके कार्य प्रपञ्च के अंतर्गत ही है अतः कारणीभूत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर प्रपंच एवं वृत्ति दोनों नष्ट हो जायेंगे।

अब यदि यह कहें कि अज्ञान एवं चराचर प्रपंच तथा अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के नष्ट हो जाने पर भी वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्याभास तो विद्यमान रहेगा ही, अतः तब भी अद्वैत–सिद्धि नहीं हो सकती तो इस सन्देह का उत्तर यह देते हैं कि अखण्डाकाराकारित वृत्ति के नष्ट हो जाने पर भी उसमें जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, वह अलग प्रतीत नहीं हो सकता। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है, पर यदि दर्पण न रहे तो केवल बिम्ब, अर्थात् मुखमात्र भासित होगा, क्योंकि उसका प्रतिबिम्ब अलग प्रतिभासित नहीं हो सकता। इसी प्रकार वृत्ति में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब भासित हो रहा था अब वह वृत्ति के नष्ट हो जाने पर भासित न होकर बिम्बमात्र शेष रह जायेगा। अर्थात् जैसे दीपक की प्रभा सूर्य को अवभसित नहीं कर सकती, अतः उसके आगे क्षीण हो जाती है, उसी प्रकार स्वयंप्रकाश–स्वरूप प्रत्यगभिन्न परब्रह्म को वह चैतन्यप्रतिबिम्ब अवभासित नहीं कर सकता अपितु जिस अखण्ड चित्तवृत्ति के कारण वह अलग प्रतीत हो रहा था उसके नष्ट हो जाने पर स्वतः उसी प्रकार बिम्ब मात्र रह जायगा, जिस प्रकार दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण के रहने तक तो दिखलाई देता है, किन्तु दर्पण के न होने पर बिम्बमात्र अर्थात् मुखमात्र ही शेष रह जाता है। ठीक इसी प्रकार वृत्ति के न होने पर उस चैतन्य के प्रतिबिम्ब का भी बिम्ब प्रत्यगभिन्न परब्रह्ममात्र ही रह जाता है।

एवञ्च सति "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" "यन्मनसा न मनुते" इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्।

तदुक्तम्–

"फलव्याप्यत्वमेवास्यशास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।" इति
"स्वयंप्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते।" इति च

जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति।तथापि अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति।तदुक्तम्–

"बुद्धितस्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत।" इति।

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति।

व्याख्या : और ऐसा होने पर 'मन से ही वह दृष्टव्य है', 'जो मन के द्वारा नहीं जाना जाता' इस प्रकार की दोनों श्रुतिओं में अविरोधवृत्ति के व्याप्यत्व को स्वीकार करने से फल व्याप्यत्व का प्रतिषेध प्रतिपादन के कारण होता है। अर्थात् जब आत्मा को मनोगम्य कहा जाता है तो 'मन 'से वृत्ति ग्राह्य है। जब आत्मा को मन और बुद्धि से अप्राप्य कहा जाता है तो इन पदों से फल ग्राह्य है। इस प्रकार उक्त श्रुतियों में विरोध का परिहार हो जाता है। ब्रह्मज्ञान के विषय में चित्त के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करना आवश्यक है। स्वयं प्रकाशक होने के कारण चैतन्याभास का कोई उपयोग नहीं है अर्थात् शास्त्र कर्ताओं द्वारा फल व्याप्यत्व निवारित किया गया है लेकिन ब्रह्मविषयक अज्ञान के विनाशार्थ वृत्ति व्याप्यत्व अपेक्षित है तथा स्वयं दीप्तिमान होने के कारण आभास उपयुक्त है। तथापि यह घट है इस प्रकार अज्ञात घट विषयक घट के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का उदय होने पर उस में स्थित अज्ञान विनाश के पश्चात् अपने में स्थित चिदाभास के द्वारा जड़ भी प्रकाशित होता है। कहा गया है – 'बुद्धि तथा उसमें वर्तमान चिदाभास ये दोनों घट में व्याप्त रहते हैं उनमें से बुद्धि के द्वारा अज्ञान दूर होता है एवं चिदाभास द्वारा घट अभिव्यक्त होता है। जिस प्रकार दिपक का प्रकाश मंडल अंधकार में स्थित घट, वस्त्र आदि विषयों की ओर उन पर आवृत्त तम को दूर करके अपने प्रकाश में उन को अभिव्यक्त करता है उसी भांति चैतन्य ज्ञान की चित्तवृत्ति को नष्ट करके पुनः चिदाभास द्वारा घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है। इस प्रकार अनुभव वाक्य का अर्थनिरूपण समाप्त होता है ।

विशेष विवेचन : इस प्रकार जब यह मान लिया जाता है कि चैतन्यप्रतिबिम्बसहित अखण्डाकाराकारितवृत्ति के द्वारा प्रत्यक्–चैतन्यगत अज्ञान नष्ट होकर प्रत्यगभिन्न पर ब्रह्ममात्र शेष रह जाता है, क्योंकि स्वयं प्रकाशमान होने के कारण वह वृत्तिगत चिदाभास के द्वारा प्रकाशित ही किया जा सकता तो 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' तथा 'मनसैवेदमाप्तव्यम् 'दृश्यते त्वर्ग्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। बुद्ध्या लोकनसाध्येऽस्मिन् वस्तुन्यस्तमिता यदि।' 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्ता भव' इत्यादि श्रुति–स्मृतियों का 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'यन्मनसा न मनुते', 'अनाशिनोऽप्रमेयस्य' इत्यादि श्रुति–स्मृतियों के साथ विरोध नहीं होता, क्योंकि अन्तःकरणवृत्तिबिम्बित चिदाभास के द्वारा नावच्छिन्न चैतन्य के अज्ञानावरणनिवृत्तिपूर्वक स्वरूपज्ञान के तात्पर्य से कही हुई 'मनसैवेदमाप्तव्यम्', 'दृश्यते त्वर्ग्यया बुद्ध्या' इत्यादि श्रुति–स्मतियाँ चरितार्थ हो जातीं हैं और स्वयंप्रकाशशील परब्रह्म किसी अन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता है, वह मन, वाणी तथा बुद्धि से परे है, अतः उसके तात्पर्य से कही हुई 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुति–स्मृतियाँ चरितार्थ हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि जिस तरह घटादि जड़–पदार्थ देखने के लिए आंख और दीपक दोनों की आवश्यकता है किन्तु दीपक देखने के लिए केवल ऑखे पर्याप्त है, उसी प्रकार अज्ञानावच्छिन्न जीवचैतन्यगत अज्ञान को हटाकर ब्रह्मात्र अवशेष रखने के लिये 'अहं ब्रह्मास्मि' यह तदाकाराकारित चित्तवृत्ति तथा तद्गतचिदाभास दोनों की आवश्यकता है। इस प्रकार अज्ञानावरण हट जाने से ब्रह्मज्ञान होने के तात्पर्य से ही 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्', 'दृश्यते त्वर्ग्यया बुद्ध्या' इत्यादि श्रुति–स्मृतियॉ कही गई है और

अज्ञानावरण हट जाने से जब स्वयं प्रकाशमान चैतन्य अवशिष्ट रह जाता है तो उसे कोई प्रकाशित नहीं कर सकता, वहाँ किसी की गति नहीं, इस तात्पर्य से कही हुई 'यन्मनसा न मनुते ततो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुतियाँ संगत हो जाती है। यही सब भाव पंचदशी में इस प्रकार प्रकट किया गया है –

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।।
चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा।
न दीपदर्शने, किन्तु चक्षुरेकमपेक्ष्यते।।
स्वयं स्फुरणरुपत्वान्नाभास उपयुज्यते।
स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत्परम्।
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद् घटादिवत्।

इस प्रकर चैतन्याकाराकारितवृत्ति की दशा स्पष्ट होती है अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की जब अज्ञात ब्रह्मविषयक चित्तवृत्ति उदित होती है तो वह जीव चैतन्यगत अज्ञानावरणमात्र को दूर करती है। उसके दूर होते ही अपने आप ही उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जैसे मलिन जल को स्वच्छ कर कतकरेणु जल में विलीन हो जाता है, अथवा अरणिगत अग्नि अरणि से उत्पन्न होकर अरणि के नष्ट हो जाने पर अपने आप ही शान्त हो जाती है। तत्पश्चात् उस वृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्बरूप चैतन्याभास रह जाता है। वह स्वयं प्रकाशमान शुद्ध चैतन्य का ही अंश है, अतः उसे प्रकाशित न कर सकने के कारण उसी में विलीन हो जाता है।

किन्तु जडघटाद्याकाराकारितवृत्ति का स्वरूप इससे भिन्न है। जब 'अयं घटः' अहं 'घटविषयकज्ञानवान्' इस प्रकार अज्ञातघटविषयकचित्तवृत्ति का उदय होता है तो वह वृत्ति घटावच्छिन्न चैतन्य के आवरण करने वाले घट–विषयक अज्ञान का भी नाश करती है और अपने में वर्तमान चिदाभास के द्वारा घट को भी प्रकाशित करती है। पंचदशीकार भी 'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ' इस कारिका के माध्यम से स्पष्ट करते हैं कि बुद्धि और बुद्धिप्रतिबिम्बित चिदाभास ये दोनों जाकर घट व्याप्त होते है, उनमें से धी अर्थात् वृत्ति के द्वारा घटविषयक अज्ञान नष्ट हो जाता है और वृत्तिप्रतिबिम्बित चिदाभास के द्वारा घट प्रकाशित होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दीपक अन्धेरे में रखे हुए घटादिकों के आवरण रूप अन्धकार को दूर करता है तथा अपने प्रकाश से उन्हें प्रकाशित भी करता है उसी प्रकार घटाद्याकाराकारितचित्तवृत्ति घटादिविषयक चैतन्यज्ञानावरण को नष्ट करती है और स्वप्रतिबिम्बितचिदाभास के द्वारा घटादिक को प्रकाशित भी करती है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि अल्पज्ञ जीव तथा सर्वज्ञ ब्रह्म दोनों में 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा अखण्डैकरस ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है। वेद तथा उपनिषद् एक स्वर से इसी जीव ब्रह्मैक्य का उद्घोष करते हैं। वही एक ब्रह्म आत्मा के रूप में सम्पूर्ण जीवों में व्याप्त है, यथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में उपदेश दिया गया है – 'एको देवःसर्वभूतेषु गूढ़ःसर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'। 'वेदान्तसार में तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा इसी प्रयोजन की सिद्धि की गई है। यही उपदेश अधिकारी को मोक्ष की और प्रेरित करता है तत्पश्चात् अनुभव वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' के विवेचन से स्पष्ट हुआ कि अखण्डार्थ ज्ञाता अधिकारी के अंतःकरण में ब्रह्म के स्वरूप को धारण करने वाली अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का उदय होता है। यही परम चैतन्यचैतन्य के साक्षात्कार का सोपान है।

14.3 सारांश

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ है कि जीव–ब्रह्म स्वरूप का सारगर्भित रूप में विवेचन करने वाले सूत्रात्मक गूढ वाक्य महावाक्य कहलाते हैं। इसीलिए अधिकारीशिष्य को गुरु द्वारा समुचित काल में महावाक्यों के प्रवचन की प्रतिज्ञा की गई है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य है तथा इसे ही उपदेशवाक्य भी कहा गया है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्डचैतन्यार्थ का बोधक होता है। ये तीन सम्बन्ध हैं – समानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव तथा लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध। इन पदों में अर्थात् तत् तथा त्वम् पदों में समानाधिकरण्य सम्बन्ध है तथा पदार्थों में अर्थात् परोक्षत्व सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य तथा अपरोक्षत्व अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य का विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध है। आन्तरिक आत्मलक्षण पदों में लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है अर्थात् परोक्षत्व अपरोक्षत्वादि विशिष्टत्वरूप विरुद्धांशों से रहित तत् तथा त्वम् पदों का या पदार्थों का अविरुद्ध चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध है। 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य का बोधक है तथा 'त्वम्' पद अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य का बोधक है। पृथक्–पृथक् अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यबोध कराने वाला सम्बन्ध समानाधिकरण्य है। अतः इस सम्बन्ध से तत् तथा त्वम् दोनों पद एक ही अखण्ड ब्रह्म के द्योतक हैं। अन्य शब्दों से व्यावृत्त करने वाला विशेषण तथा व्यावर्त्य होने वाला पद विशेष्य है। विशेषण विशेष भाव सम्बन्ध से तत् तथा त्वम् ये दोनों पद अखण्डैकार्थ चैतन्य बोधक होकर 'वह ही तू' तथा 'तू ही वह' ऐसी एक ही प्रतीति कराते हैं। लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध भाग लक्षणा है जिससे तत् तथा त्वम् क्रमशः सर्वज्ञत्वादि तथा अल्पज्ञत्वादि विरुद्धांशों का त्याग कर अखण्डचैतन्यांश मात्र एक अर्थ का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार त्रिविध सम्बन्धों से 'तत्त्वमसि' महाकाव्य अखण्डैकार्थ चैतन्य अर्थात् ब्रह्म का बोधक होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' अनुभव वाक्य है। अनुभव का अर्थ है ब्रह्म से साक्षात्कार। ब्रह्मविषयक अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का उदय चैतन्यगत अज्ञानावरणमात्र को दूर करता है। तत्पश्चात् उस वृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्बरूप चैतन्याभास रह जाता है। वह स्वयं प्रकाशमान शुद्ध चैतन्य का ही अंश है, अतः उसे प्रकाशित न कर सकने के कारण उसी में विलीन हो जाता है। यही अद्वैत है।

14.4 शब्दावली

1. अनुबन्ध–(अनु+बन्ध+घञ्) सम्बन्ध जोड़ने वाला
2. चतुष्ट्य–(चतुर+तयप्) चार तत्त्वों का समूह
3. ब्रह्म – (बृंह्+मनिन्) एकमात्र नित्य चेतन निर्गुण निराकार सत्ता
4. अल्पज्ञत्व –(अल्प+ज्ञ+त्व (भावे) कम जानने का भाव
5. सर्वज्ञत्व –(सर्व+ज्ञ+त्व (भावे) सब जानने का भाव
6. चैतन्यम् (चेतन+ष्यञ् – चेतनायाः भावः) परमात्मा, जो सभी प्राणियों का मूलतत्त्व तथा संवेदनाओं का स्रोत है।
7. उपनिषद् –(उप+नि+सद्+क्विप्) परमात्मा विषयक गूढ़ रहस्यात्मक सत्य ज्ञान
8. बोधक – (बुध्+णिच्+ण्वुल्) अवगत कराने वाला
9. बोध्य –(बुध्+यञ्) जिसका ज्ञान प्राप्त हो, जानने योग्य

10. अध्यारोप –(अधि+आ+रुह्+णिच्+पुक्+घञ्) भ्रमवश एक वस्तु को अन्य वस्तु समझना, भ्रान्तिपूर्वज्ञान।
11. अपवाद– (अप+वद्+घञ्) सामान्य नियम को बाधित करने वाला विशेष नियम।
12. तुरीय – (चतुर् +छ, आद्यलोपः) चतुर्थ
13. अखण्ड –(खण्ड्+घञ्, न खण्डः अखण्डः) सम्पूर्ण जिसका खण्ड न हो।
14. सजातीय – (सजाति+छ) जिसका समान प्रकार या जाति हो।
15. विजातीय – (विजाति+छ) भिन्न प्रकार या जाति का, असमान, विषम।
16. माया – (मा+य+टाप्) अवास्तविक, एक प्रकार की भ्रान्ति जिसके कारण मनुष्य जगत् को परमात्मा से भिन्न तथा वास्तविक जानता है। पंचदशी के अनुसार माया ईश्वर की उपाधि है।
17. कारण शरीर – कारण – (कृ+णिच्+ल्युट्), शरीर – (शृ+ईरन्) जड चेतन पदार्थों की काया, देह। अविद्या निर्मित अवतरण ही कारण शरीर है, सृष्टि के प्रथम चरण में जीव कारण शरीर के आश्रित रहता है। आनन्द की प्रचुरता से यह 'आनन्मय कोष' कहलाता है।
18. सूक्ष्म शरीर –सूक्ष्म (सूक्+मन्+सुक् च नेट्) महीन, आणविक। सूक्ष्म शरीर पंचप्राण, पंचकर्मेन्द्रियों, पंचज्ञानेन्द्रियों, मन तथा बुद्धि इन 17 अवयवों का समूह है। स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर नवीन स्थूल शरीर की प्राप्ति तक जीव सूक्ष्म शरीर के आश्रित रहता है।
19. स्थूल शरीर – स्थूल (स्थूल+अच्) बृहत्, विशाल, मोटा। माता–पिता द्वारा भुक्त अन्न से इसकी उत्पत्ति होती है जो भौतिक तथा नश्वर है।
20. व्यष्टि –(वि+अश्+क्तिन्) वैयक्तिकता, एक अंश।
21. समष्टि – (सम्+अश्+क्तिन्) समुच्चयात्मक व्याप्ति।
22. उपहित – (उप+धा+क्त) उपाधि से युक्त।
23. अनुपहित – (न+उप+धा+क्त) उपाधि रहित।
24. पप्रंच – (प्र+पचि–व्यक्तीकरणे+घञ्)दृश्यमान् जगत् जो केवल माया और नानात्व का प्रदर्शन करता है।
25. विवक्षा – (विच्+सन्+अ+टाप्) बोलने की इच्छा।
26. समानाधिकरण –समान (सम्+अन्+अण्) अभिकरण (अधि+कृ+ल्युट्) समान आधार वाला, व्याकरण में एक ही कारक की विभक्ति से युक्त।
27. विशेषण – (वि+शिष्+ल्युट्) वह शब्द जो किसी दूसरे शब्द की विशेषता प्रकट करता है।
28. विशेष्य – (वि+शिष्+ण्युत्) जो शब्द या पदार्थ किसी अन्य शब्द (विशेषण) द्वारा विशिष्ट या परिभाषित कर दिया गया है।
29. अभिधा – (अभि+धा+अङ्+टाप्) शब्द की मुख्य शक्ति।
30. लक्षणा – (लक्षण+टाप्) शब्द की गौणी वृत्ति जो मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर मुख्यार्थ योग तथा रूढि अथवा प्रयोजनवशात् अर्थ व्यक्त करती है।
31. लक्ष्य – (लक्ष्+ण्यत्) जानने योग्य, उद्देश्य।
32. लक्षण – (लक्ष्+ल्युट्) भेद बोधक चिह्न, विशेषता।

33. अवच्छिन्न – (अव+छिद्+क्त) किसी विशेषण से युक्त।
34. ईश्वर –(ईश्+वरच्) अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य, कारण शरीर, आनन्दमयकोश तथा सुषुप्ति अवस्था।
35. सूत्रात्मा – अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य, सूक्ष्म शरीर स्वप्नावस्था, प्राणमय मनोमय तथा विज्ञानमय कोश की सम्मिलित अवस्था।
36. वैश्वानर –(विश्वानर+अण्)– अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य, जागृत अवस्था, स्थूल भोगों का आश्रय, अन्नमय कोश।
37. प्राज्ञ – (प्र+ज्ञा+क = प्राज्ञ – ततः स्वार्थे अण्), अज्ञान की व्यष्टि से उपहित, कारण शरीर आनन्दमय कोश तथा सुषुप्ति अवस्था।
38. तैजस – (तेजस्+अण् अज्ञान की व्यष्टि से उपहित सूक्ष्म शरीर, स्वप्नावस्था, प्राणमय–मनोमय तथा विज्ञानमय कोश की सम्मितित अवस्था।
39. विश्व – (विश्+व्) अज्ञान की व्यष्टि से उपहित चैतन्य, जागृत अवस्था, स्थूल भोगों का आश्रय, अन्नमयकोश।
40. जड़घटाद्याकाराकारितवृत्ति– अंतःकरण के चक्षुरादि द्वारा घटादि विषय देश में जाकर तत्तदाकार में परिणत होने की वृत्ति ।

14.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. वेदान्तसार, सदानन्दयोगीन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (उ.प्र.), 2018।
2. भारतीयदर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदामन्दिर, वाराणसी (उ.प्र.), 2001।
3. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी (उ.प्र.), 2010।
4. विवेकचूड़ामणि, आद्यशंकराचार्य, गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.), 2018।

14.6 अभ्यास प्रश्न

1. महावाक्य किसे कहा गया है?
2. समानाधिकरण्य सम्बन्ध से क्या तात्पर्य है?
3. विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
4. लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।
5. लक्षणाशब्दशक्ति के भेदों का विवेचन कीजिए।
6. 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों का क्या अर्थ है?
7. 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
8. अनुभववाक्य क्या है?
9. अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

इकाई 15 स्वस्वरूपसाक्षात्कार साधन, समाधि और जीवन्मुक्ति

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- इस पाठ द्वारा आप स्वरूपचैतन्य के साक्षात्कार के साधनों– श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं समाधि के विषय में जान सकेंगे।
- समाधि के प्रकारों– सविकल्पक एवं निर्विकल्पक के लक्षणों, अंगों तथा विघ्नों के विषय में विस्तार से परिचय प्राप्त करेंगे।
- जीवन्मुक्ति के लक्षण के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे; तथा
- वेदान्तसार की विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

15.1 प्रस्तावना

श्री सदानन्द यति द्वारा प्रणीत 'वेदान्तसार' ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के विषय में संक्षेप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। वेदांन्तसार के प्रथम भाग के उपरांत आपको इस खंड की प्रथम दो इकाई में अध्यारोप, अपवाद और तत्वग्पदार्थशोधन तथा महावाक्यार्थविचार का अध्ययन किया! इस पाठ में आप स्वरूपसाक्षात्कार के साधनों समाधि एवं जीवन्मुक्ति के विषय में पढ़ेंगे। स्वरूप का साक्षात्कार करने के साधन हैं– श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं समाधि। समाधि के दो प्रकार हैं – सविकल्पक एवं निर्विकल्पक। इन के लक्षणों के साथ आप समाधि के अंगों एवं विघ्नों के विषय में भी विस्तार से पढ़ेंगे। जीते हुए कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाने को 'जीवन्मुक्त' कहते हैं। यहाँ आप जीवन्मुक्त के लक्षणों के विषय में भी विस्तार से पढेंगे। विदान्तसार की प्रतिपाद्य विषयवस्तु की दृष्टि से इन तीनों ही विषयों का विशेष महत्व है, अतः इकाई में विषय प्रवर्तन, मूलपाठ व्याख्या एवं विशेष टिप्पणियों के माध्यम से विषय को गहनतापूर्वक प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

15.2 स्वस्वरूपसाक्षात्कार साधन, समाधि – एवम्भूत से सोपमा स्मृता इति पर्यन्त (60-64)

अद्वैत वेदान्त के अनुसार प्रपञ्चादि समस्त ज्ञेय (विषय) एवं उनके ज्ञाता का अधिष्ठान भूत शुद्ध चैतन्य या चिन्मात्र ही एक मात्र परमार्थ या सत्यवस्तु है जो कि ज्ञाता आत्मा का अपना शुद्धस्वरूप है। वस्तुतः आत्मा का ज्ञातृत्व ज्ञेय (विषय) और उसके ज्ञान की अपेक्षा से है, अतः वह औपाधिक है, मिथ्या है। इसका त्याग करके सर्वाधिष्ठान भूत निरूपाधिक शुद्ध चिन्मात्र का साक्षात्कार और उसके द्वारा अमृत्व (मुक्ति) की प्राप्ति अद्वैत वेदान्त का परम लक्ष्य और मानव जीविन का परम पुरुषार्थ, परम प्रयोजन है।

बृहदारण्यकोपनिषिद् (4/5) के मैत्रेयी ब्राह्मण के अनुसार महामुनि याज्ञवल्क्य अपनी ब्रह्मवादिनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते हैं कि – हे मैत्रेयी ! सभी कुछ आत्मा के ही लिए; अपने ही लिए प्रिय होता है,; पति पुत्रादि के लिए नहीं। अतः सर्वप्रिय आत्मा का ही दर्शन अनुभव या साक्षात्कार करना चाहिए, उसी का श्रुति वाक्यों से 'श्रवण' तथा श्रुत्यनुकूल तर्कों या युक्तियों से 'मनन' करके अहर्निश निदिध्यासन करना चाहिए। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से उसका दर्शन हो जाने पर; उसका विज्ञान हो जाने पर अन्य सभी कुछ दृष्ट या विज्ञान हो जाता है; सारे रहस्य का उद्‌घाटन हो जाता है।

स्वस्वरूप साक्षात्कार के साधन –ब्रह्मबोध की प्रक्रिया में चित्तवृत्ति का उपयोग तो होता है क्योंकि वह ब्रह्मविषयक जीवाश्रित अज्ञान को नष्ट करती है, किन्तु तद्वत् चिदाभास की उसमें कोई उपयोगिता नहीं होती है, क्योंकि अपने से हजारों गुणा अधिक प्रकाशमान स्वबिम्बभूत ब्रह्म को प्रकाशित करने में कतई समर्थ नहीं है, अपितु उसके समक्ष वह अभिभूत होकर उसी के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है।

'आवृत्तिसकृदुपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र 4/1/1) अर्थात् 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुतियों में श्रवणादि का बार–बार उपदेश होने से साक्षात्कार पर्यन्त श्रवणादि की निरन्तर आवृत्ति होती रहनी चाहिए। साक्षात्कार के साधन इस प्रकार हैं –

श्रवण : श्रवण का लक्षण है – 'श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तनामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्' अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु के प्रतिपादन में तात्पर्य है, इसका छः प्रकार के लिङ्गों से निश्चय करना 'श्रवण' है। वे लिङ्ग हैं– उपक्रम और उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति।

लिङ्गानि तूपक्रमोसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्याख्यानि–अब इन छहों लिङ्गों के बारे में जानते हैं – इनमें से एक 'उपक्रमोपसंहार' है; जिसका अर्थ है किसी प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उसके प्रारम्भ और अन्त में उपपादन करना। जैसे – छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरण के प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु का 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। 'एतदात्म्यमिदमा सर्वम्' अर्थात् यह सारा जगत् प्रपञ्च सत् संज्ञक आत्मा (स्वरूप) वाला है! इन शब्दों द्वारा अन्त में प्रतिपादन किया गया है।

तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्याऽर्थस्य तदाद्यन्तयोरूपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाधअयाये प्रकरणप्रितपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्।

फलं तु प्रकरण प्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य' इत्यद्वितीय वस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञानं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येन सत्यम्' इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते।

प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का उसके मध्य में पुनः पुनः प्रतिपादन करना 'अभ्यास' है। जैसे वहीं प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्मवस्तु का उस प्रकरण के मध्य में 'तत्त्वमसि' इस प्रकार से नौ बार प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण : प्रतिपाद्य वस्तु का (श्रुति के अतिरिक्त) किसी अन्य प्रमाण द्वारा विषय न बनाया जाना (अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से बोध या ज्ञान न होना) 'अपूर्वता है। जैसे – उसी प्रकरण में अद्वितीय वस्तु का किसी अन्य प्रमाण से अगम्य होना ('आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि कथन से) सूचित होता है।

विशेष : किसी प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य आत्मज्ञान का अथवा आत्मज्ञान के लिए किये जाने वाले साधनानुष्ठान का जो प्रयोजन उस उस प्रकरण में प्रतिपादित होता है, वही 'फल' कहलाता है। जैसे वहीं 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (6/14/8) अर्थात् आचार्यवान् पुरुष ही आत्मा को जानता है। उसके लिए तभी तक देर है जब तक वह शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं होता। तदनन्तर तो वह सत्सम्पन्न अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इस उक्ति के द्वारा अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन उसकी प्राप्ति बताया गया है।

प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की स्थान–स्थान पर प्रशंसा 'अर्थवाद' है। जैसे वहीं 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (6/1/3) अर्थात् 'क्या तुमने (आचार्य से) उस आदेश (अर्थात् शास्त्राचार्योपदेशैकगम्य ब्रह्मत्त्व) के विषय में पूंछा है जिससे न सुना हुआ सुना हुआ, न विचारा गया विचारा गया तथा न जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है' इन शब्दों के द्वारा अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु की प्रशंसा की गई है। प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को सिद्ध या प्रमाणित करने के लिए स्थान–स्थान पर वर्णित युक्ति ही 'उपपत्ति' है। जैसे वहीं 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं सत्यम्' (6/1/4) अर्थात् 'हे सौम्य! जिस प्रकार मृत्तिका के एक पिण्ड को जान लेने पर उसके विकार (कार्य) तो वाणी से आरब्ध (उत्पन्न) होने वाला नाम मात्र है, सत्य तो केवल (कारणभूत) मृत्तिका ही है' इत्यादि शब्दों के द्वारा अद्वितीय वस्तु को सत्य सिद्ध करने या प्रमाणित करने के लिए समस्त विकारों या कार्यों के केवल वाणी का विकार (तदाश्रित) होने में युक्ति प्रस्तुत की गई है।

मनन –'मनन' का लक्षण है – 'मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुण–युक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्'। अर्थात् जिसका श्रवण किया गया, उस अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का वेदान्त के अनुकूल तर्कों के द्वारा निरन्तर चिन्तन करना ही 'मनन' है। यहाँ 'वेदान्तानुगुणयुक्तिभिः' इस पद के द्वारा मनुष्य की अनियन्त्रित बुद्धि के द्वारा कल्पित शुष्क तर्कजाल का निराकरण किया गया है। वेदान्त दर्शन में तर्क का स्थान तो है किन्तु सत् तर्क का, जो कि उसके द्वारा कथित प्रतिपादित सिद्धान्त में साधक को प्रतिष्ठित करने में सहायक हो। इसे ही श्रुति का अनुगुण अर्थात्

अनुकूल तर्क कहा है। श्रुति निरपेक्ष शुष्क कुतर्क के लिए वेदान्त में कोई स्थान नहीं है। इस विषय में सुबोधिनी टीका में श्रीनृसिंह सरस्वती कहते हैं – षड्विधं लिङ्गतात्पर्यपूर्वक श्रुतस्याद्वितीयब्राह्मणो वेदान्ताविरोधिनीभिर्युक्तिभिर्नैरन्तर्येणानुचिन्तनं मननमित्यर्थः। अर्थात् छः प्रकार के लिङ्गो के तात्पर्य के साथ सुने गये अद्वितीय ब्रह्म का वेदान्त की अविरोधी या अनुकूल युक्तियों के द्वारा बार–बार चिन्तन करना ही 'मनन' कहलाता है।

निदिध्यासन–'निदिध्यासन' का लक्षण है – 'विजातीय देहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीय प्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्'। अर्थात् विजातीय (बेमेल) शरीरादि विषयक विचारों से रहित, अद्विवतीय वस्तु के सजातीय विचारों को (मन में) प्रवाहित करना ही 'निदिध्यासन' है। इस विषय में सुबोधिनी टीका में श्रीनृसिंह सरस्वती कहते हैं – विजातीयदेहादिबुद्ध्यन्तजडपदार्थनिराकरणेन सजादतीयद्वितीयवस्तु–विषयकप्रत्ययप्रवाहीकरणं निदिध्यासनमित्यर्थः। अर्थात् विजातीय (बेमेल) शरीर आदि बुद्धि पर्यन्त जड़ पदार्थो के निराकरण के साथ सजातीय अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) विषयक प्रत्ययों (विचारों/चिन्तनों) को मन में प्रवाहित करना ही 'निदिध्यासन' कहलाता है।

मूल–पाठएवम्भूत स्वस्वरूप चैतन्यसाक्षात्कार पर्य्यन्तं
श्रवण–मनन–निदिध्यासन–समाध्यनुष्ठानस्यापेथ्तितत्त्वात्तेऽपि प्रदर्शयन्ते। श्रवण नाम
षड्विधलिङ्गैरशेष वेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्। लिङ्गानि
तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि ।विजातीय देहादि प्रत्ययरहिता
द्वितीयवस्तुसजातीय प्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्।

विशेष : 'आवृत्तिरसकदुपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र 4/1/1) अर्थात् 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुतियों में श्रवणादि का बार–बार उपदेश होने से ब्रह्मसाक्षात्कार पर्यन्त श्रवणादि की निरन्तर आवृत्ति होती रहनी चाहिए, इस तथ्य का कथन करते हुए ग्रन्थकार उनका निरूपण करते हैं। 'एवम्भूत' इत्यादि ग्रन्थपाठ द्वारा प्रतिपादित प्रत्यगभिन परमानन्द अखण्ड चैतन्य को साक्षात्कारलक्षण अखण्डाकार अन्तःकरणवृत्ति का प्रतिपादन करने के लिए तत्साधनभूत श्रवणादि का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, इसलिए उनके लक्षण क्रमशः प्रदर्शित करते हैं। अपने स्वरूपभूत चैतन्य का इस प्रकार से साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि का अनुष्ठान (अभ्यास) अपेक्षित होने के कारण उन्हें भी प्रदर्शित किया जा रहा है।

अब 'षड्विध' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा 'श्रवण' का लक्षण करते हैं – सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु (के प्रतिपादन) में तात्पर्य है, इसका छः प्रकार के लिङ्गों से निश्चय करना श्रवण है। वे लिङ्ग हैं – (1) उपक्रम और उपसंहार, (2) अभ्यास, (3) अपूर्वता, (4) फल, (5) अर्थवाद तथा (6) उपपत्तिष। लीनमर्थं गमयन्तीति लिङ्गानि। अर्थात् जीव और ब्रह्म का ऐक्य रूप जो लीन (छिपा हुआ, अप्रकार) अर्थ है उसकी अवगति या बोध कराने के कारण उपक्रमादि 'लिङ्ग' कहे गये हैं।

प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का उसके मध्य में पुनः पुनः प्रतिपादन करना 'अभ्यास' है। जैसे वहीं प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म वस्तु का उस प्रकरण के मध्य में 'तत्त्वमसि' इस प्रकार से नौ बार प्रतिपादन किया गया है।

'अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम्' अर्थात् शास्त्र केवल अज्ञात वस्तु का ज्ञापक होता है यह सिद्धान्त है मीमांसा शास्त्र का जिसे वेदान्त भी मानता है। उसके अनुसार श्रुति में

इन्हीं विषयों का कथन है जो तर्क और प्रत्यक्ष से अगम्य हैं। श्रुति लोकसिद्ध वस्तु का प्रतिपादन नहीं करती। उपनिषदों का प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म लोक सिद्ध भी नहीं और तर्कादि से स्वतन्त्र रूप से भी प्रमाण, तर्क और युक्ति का स्वतन्त्र या पृथक् रूप से विषय न होने के कारण ही अद्वितीय ब्रह्म की 'अपूर्वता' सिद्ध होती है। यों तो ब्रह्म स्वयम्प्रकाश होने से सामानय्तः शास्त्र का भी विषय नहीं बन सकता है, फिर भी उसे 'औपनिषद्' अर्थात् केवल उपनिषदों के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन विषय रूप से नहीं, अपितु , प्रत्यगात्माऽभिन्न होने के कारण अविषय रूप से ही किया जाता है। प्रत्यगात्मा तो विषय नहीं अपितु विषयी है, तब उस से अभिन्न ब्रह्म भी अविषय ही है।यहाँ ग्रन्थ में 'तदनुष्ठानस्य' का आशय यह है – तस्य आत्मज्ञानस्य अनुष्ठनस्येति तदनुष्ठानस्य। अर्थात् आत्मज्ञान में साधन बनने वाले श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि का। आत्मज्ञान में श्रवणादि को साधन रूप से उपस्थिति रहती है।

'उपपत्ति' इस शब्द का अर्थ है युक्ति या तर्क। अद्वितीय ब्रह्म की सत्ता की सिद्धि में जो उपपत्ति या युक्ति ग्रन्थकार ने श्रुति के आधार पर दी है, वह इस प्रकार है– मिट्टी के बने हुए घड़े, कसोरे आदि जितने भी कार्य हैं, वे सब मिट्टी ही है, उससे अलग कुछ भी नहीं। घड़ा, सकोरा आदि नाम केवल वाणी के कार्य हैं। इस प्रकार कार्यों की वस्तुतः कोई सत्ता नहीं, वे नाम मात्र हैं, मिथ्या हैं। सत्य तो केवल मृत्तिका रूप उनका कारण ही है। इसी प्रकार ब्रह्म रूप कारण से उत्पन्न यह सारा चराचर जगत् रूप कार्य परमार्थतः ब्रह्म ही है, उससे पृथक् जगत् की कोई सत्ता नहीं है।

जिस का श्रवण किया गया, उस अद्वितीय ब्रह्म का वेदान्त के अनुकूल तर्कों के द्वारा निरन्तर चिन्तन करना ही मनन है। इस विषय में सुबोधिनी टीका में श्री नृसिंह सरस्वती कहते हैं – 'षड्विधलिङ्गतात्पर्यपूर्वकं श्रुतस्याद्वितीय ब्रह्मणो वेदान्ताविरोधिनीभिर्युक्तिभिर्नैरन्तर्येणानुचिन्तनं गमनमित्यर्थः।' अर्थात् छः प्रकार के लिङ्गों के तात्पर्य के साथ सुने गये अद्वितीय ब्रह्म का वेदान्त की अविरोधी या अनुकूल युक्तियों के द्वारा बार–बार चिन्तन करना ही 'मनन' कहलाता है। ग्रन्थ में 'वेदान्तानुगुणयुक्तिभिः' इस पद के द्वारा मनुष्य की अनियन्त्रित बुद्धि के द्वारा कल्पित शुष्क तर्कजाल का निराकरण किया गया है। वेदान्त दर्शन में तर्क का स्थान तो है ही किन्तु सत् तर्क का है। जो कि उसके द्वारा कथित प्रतिपादित सिद्धान्त में साधक का प्रतिष्ठित करने में सहायक है। इसे ही श्रुति का अनुगुण अर्थात् अनुकूल तर्क कहा है। श्रुति निरपेक्ष शुष्क कुतर्क के लिए वेदान्त में कोई स्थान नहीं है। श्रुति के द्वारा तत्त्व का निश्चय करने के अनन्तर विरोधी था प्रतिपक्षी वितर्कों के निराकरण के लिए श्रुत्युक्त सत्य के अनुकूल तर्क का ग्रहण 'मनन' प्रक्रिया में होता है। एवं मननान्तर्गत असम्भावना आदि दोषों का निराकरण करने वाले तर्कों या युक्तियों का भी ग्रहण होता है।

समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति। तत्र सविकल्पको नाम
ज्ञात्ज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीय वस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्।
तदा मृन्मय गजादि भानेऽपि मद्भानबद्वैत भानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते'।

वेदान्त सार में 'समाधि' का लक्षण नहीं दिया है। सुबोधिनी टीकाकार श्रीनृसिंह सरस्वती ने लिखा है – 'व्युत्थाननिरोधसंस्कारद्योरभिभवप्रादुर्भावे सति चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः समाधिः'। अर्थात् समाधि से उठना (व्युत्थान) एवं निरोध के संस्कारों के अभिभव और प्रादुर्भाव होने पर चित्त की एकाग्रता का परिणाम 'समाधि'

अर्थात् ब्रह्म में चित्त का सम्यक् आधान या अवस्थान 'समाधि' कहलाता है। समाधि दो प्रकार की है – सविकल्पक एवं निर्विकल्पक।

सविकल्पक समाधि –सविकल्पक समाधि का लक्षण है – 'तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीय वस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्। तदा मृन्मय गजादि भानेऽपि मद्भानबद्वैत भानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते'। अर्थात् उनमें ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय विकल्पों के विलय (समाप्ति) की अपेक्षा बिना किये अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) का आकार धारण करने वाली चित्तवृत्ति का उसमें स्थिर होना 'सविकल्पक समाधि' है। उस समय, जिस प्रकार मिट्टी के बने हुए हाथी आदि (खिलौनों) की प्रतीति होने पर भी वस्तुतः मिट्टी ही है, सी प्रकार द्वैत की प्रतीति होने पर भी वस्तुतः अद्वैत वस्तु की ही प्रतीति होती है। इसी बात को उपदेशसाहस्री में कहा गया है –

शिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।

अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्त ओम्।।

अर्थात् जो चैतन्य घन आकाश के समान (सर्वव्यापक) जन्मरहित, एक (सजातीय तथा विजातीय) भेदों से रहित तथा अविनाशी है, जो निर्लिप्त (अविद्या आदि दोषों से रहित) सर्वव्याप्त (सब में अनुस्यूत) और अद्वितीय (स्वगत आदि भेदों से रहित) है, वही मैं हूँ। अतः सदैव विमुक्त हूँ। (10/1)

निर्विकल्पक समाधि –निर्विकल्पक समाधि का स्वरूप इस प्रकार है – 'निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादि विकल्पलयापेक्षयाऽद्वितीय वस्तुति तदाकाराकारितायाश्चित्तवृदत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवद्द्वितीयवसत्वाकाराकारित–चित्तवृत्त्यनवभासेना–द्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेद शङ्का न भवति। उभयत्र वृत्त्यभानेसमानेऽपि तत्सद्भावसद्भावमात्रेणानयोर्भेदापपत्तेः।' अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय विकल्पों के विलीन हो जाने की अपेक्षा से अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में उसके आकार से आकारित चित्तवृत्ति का आत्यन्तिक रूप से स्थित हो जाना निर्विकल्पक समाधि है। उस समय अद्वितीय वस्तु के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का भान न होकर अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) मात्र का ही भान होता है, जैसे (जल में घुलने पर) जल का आकार या रूप धारण करने वाले नमक का भान नहीं होता, जलमात्र का ही भान होता है। इसी से सुषुप्ति और इस (निर्विकल्पक समाधि) में भेद होने की शंका नहीं होती है, क्योंकि दोनों में चित्तवृत्ति का भान न होने की समानता होने पर भी समाधि में उसका अस्तित्व होने और सुषुप्ति में न होने से इन दोनों का भेद सिद्ध होता है।

निर्विकल्पक समाधि के अङ्ग

ग्रन्थकार ने निर्विकल्पक समाधि के अंगों का निरूपण निम्नांकित रूप में किया है – 'अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा। तत्राद्वितीय वस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियप्रवाहो ध्यानम्। समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव'। अर्थात् इस (निर्विकल्पक समाधि) के अंग हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा,

ध्यान और समाधि। इन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, (और) अपरिग्रह यम हैं। शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान ये नियम हैं। हाथ, पैर आदि को किसी विशेष स्थिति में रखना ही जिनका लक्षण है, वे पद्म, स्वास्तिक आदि आसन हैं। जिनका लक्षण रेचक, पूरक और कुम्भक करना है, प्राणवायु को निगृहीत नियन्त्रित करने के वे उपाय प्राणायाम कहलाते हैं। इन्द्रियों को अपने –अपने विषयों से हरा लेना प्रत्याहार है। अद्वितीय वस्तु में अन्तःकरण को लगाना धारणा है। अद्वितीय वस्तु में अन्तःकरण की वृत्ति का एक एककर प्रवाहित होना ध्यान है। समाधि तो पूर्वोक्त सविकल्पक ही है।

निर्विकल्पक समाधि के विघ्न –एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पस्य लयविध्तेपकषाय रसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्वस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तिर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बननेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्तेः रागादिवासनया स्तब्धी भावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्बसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा।

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते।एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पस्य लयविध्तेपकषाय रसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्वस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तिर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बननेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्तेः रागादिवासनया स्तब्धी भावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्बसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा।

इस अष्टांग निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास, काल में चार प्रकार के आन्तरिक विघ्न होते हैं, वे हैं – लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद। अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न करके चित्तवृत्ति का सो जाना ही 'लय' है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने के कारण चित्तवृत्ति का अन्य वस्तुओं का अवलम्बन करना 'विक्षेप' है। लय और विक्षेप के अभवा होने पर भी रागादि वासनाओं के कारण चित्तवृत्ति के स्तब्ध हो जाने से अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करना 'कषाय' है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने पर भी चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करने लगना 'रसास्वाद' है। अथवा (निर्विकल्पक) समाधि के आरम्भ काल में सविकल्पक के आनन्द का आस्वादन करना 'रसास्वाद' है।

निर्विकल्पक समाधि का स्वरूप –उपर्युक्त विघ्नों से रहित चित्त का जब अखण्ड चैतन्य के साथ अभेद हो जाता है, तब यह स्थिति 'निर्विकल्पक समाधि' कही जाती है इस बात को ग्रन्थकार कहते हैं – अनेन इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद इन चार प्रकार के विघ्नों से रहित चित्त जब वायु रहित स्थान में रखे गये दीपक की भाँति निश्चल निष्कम्प होता हुआ अखण्ड चैतन्य मात्र रूप से स्थित होता है। तब वह स्थिति निर्विकल्पक समाधि कही जाती है, जैसा कि मनीषियों के द्वारा कहा गया है –

> लये सम्बोधयोच्चित्तं विध्तिप्तं शमयेत्पुनः।
> सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।
> नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।। इति
> 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गने सोपमा स्मृता।।' इति च।।

माण्डूक्यकारिका (3/44–45) का संदर्भ देते हुए ग्रन्थकार ने बताया है कि लय होने (नींद आ जाने पर चित्त को जगाना चाहिए। विक्षिप्त (अर्थात् विषयों में भटक गये) चित्त को शान्त करना चाहिए, कषाय (अर्थात् रागादि) से युक्त चित्त को विशेष रूप से समझना चाहिए और शम को प्राप्त हो जाने पर चित्त को चलायमान नहीं करना चाहिए। उस समय रस (सविकल्पक समाधिजन्य आनन्द) का आस्वादन नहीं करना चाहिए, (प्रत्युत) विवेकबुद्धि से उस की ओर से निःस्पृह हो जाना चाहिए। इसी प्रकार भगवद्गीता (6/19) में कहा गया है कि जिस प्रकार वायुरहित प्रदेश में रखा हुआ दीपक निश्चल–निष्कंप होता है, वही उपमा (योगी के समाहित चित्त की) बताई गई है। तात्पर्य यह है कि योगी का अखण्ड चैतन्य मात्र रूप से अवस्थित समाहित चित्त निवातस्थ दीप की निष्कप–अचल ज्योति (लौ) की भाँति सतत प्रकाश रूप से स्थित रहता है।

विशेष : अब यहाँ –शिस्वरूपम् .इत्यादि उद्धृत श्लोक के प्रमुख शब्दों के तात्पर्य पर विचार करते हैं –

शिस्वरूपम् – इसका अर्थ है चैतन्यघन। प्रमाण है– शिस्वरूपं चैतन्यघनं विज्ञानघनं एव (बृदारण्यक उपनिषद् 2/4/12) इत्यादिश्रुतेः (विद्वन्मनोरञ्जनी) सुबोधिनी टीका में लिखा है – शिवदृटस्तस्याः स्वरूपं द्रष्टत्वं, तद् यस्य परमात्मस्वरूपस्य तद् – शि स्वरूपं साधितस्वरूपमित्यर्थः। तदुक्तं भगवता – उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमातमेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः इति।

सकृद्भिभातम् : इस शब्द के तात्पर्य के विषय में सुबोधिनी टीकाकार लिखते हैं– 'सकृद् एकैव विभातम् सकृद्विभातम्। सर्वदैकरूपेण भासमानं चन्द्रादिप्रकाशवन्न वृद्धिक्षयशीतलमित्यर्थः। इसका तात्पर्य यह है कि एक बार प्रकाशित होने पर, क्षयशील न होने के कारण फिर दुबारा प्रकाशित न हो, अर्थात् सर्वदा एक समान प्रकाशित होने वाला। आत्मा की ज्योति घटने–बढ़ने वाली नहीं नित्य एकरस रहने वाली है।

गगनोपमम् : इसके विषय में विद्वन्मनोरञ्जनीकार लिखते हैं– 'गगनोपमं सर्वगतं 'आकाशवत् सर्वगतश्च' इत्यादिश्रुतेः'। इस प्रकार रामतीर्थ के अनुसार यह विशेषण ब्रह्म की सर्वव्यापकता का बोधक है। सुबोधिनीकार श्रीनृसिंह सरस्वती ने इसका अर्थ 'गगनवन्निर्लेपस्वरूप' किया है और इसके प्रमाण में गीता का 'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।' श्लोक उद्धृत किया है। किन्तु इसी अर्थ का द्योतक 'अलेपकम्' पद उद्धृत श्लोक में ही आगे आया हुआ है। अतः पुनरावृत्ति दोष वचनि के लिए 'यद्वा' इत्यादि पदों से वैकल्पिक अर्थ यह दिया है– गगनोपमं गगनवदमूर्तस्वरूपमित्यर्थः। 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तैत्तरीयोपनिषद् 1/6/2) इत्यादिश्रुतेः।

अलेपकम् : इस शब्द का अर्थ है – निर्लिप्त, अविद्यादि दोषों से रहित।

सर्वगतम् : इस शब्द का अर्थ है – सर्वेषु गतं व्याप्तम् अर्थात् ब्रह्म से लेकर स्थावरजंगमात्मक समस्त भूतों में व्याप्त या अनुस्यूत श्रुति मुण्डक (2/2/5) में यह तथ्य स्पष्ट कथित है– 'यस्मिन् यौ पृथ्वि चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।' सारी श्रुतियाँ ब्रह्म के सर्वव्यापी होने के विषय में अनेकशः प्रतिपादन करती हैं। श्रुति कठोपनिषद् इसी तथ्य को 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं–रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' इत्यादि प्रकार से प्रतिपादित करती है।

सततं विमुक्तम् : यह पाठ होने पर अन्वय इस प्रकार का होगा – शिस्वरूपं... सर्वगतमद्वयं विमुक्तं यत् परमक्षरं तदेनाहम् (अस्मि) अर्थात् जो चैतन्यघन........ विमुक्त अर्थात् कार्यकारणात्मक सर्वोपाधिरिहत तत्त्व है, वही मैं हूँ, सततं विमुक्तमिति सर्वदा कार्यकारणात्मक सर्वोपाधिविनिर्मुक्तत्वेन सातैकरूपमित्यः। 'सततं विमुक्तः' पाठ होने पर यह अहम् (अर्थात् प्रत्यगात्मा) के साथ अन्वित होगा। उस स्थिति में 'विमुक्त' का अहम्परक सटीक सुस्पष्ट अर्थ यह होगा जो माण्डूक्यकारिका (2/32) 'न विरोधो न चोत्पत्तिर्न वृद्धो न च साधकः। न मुमुश्रुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता' में प्राप्त होता है। वस्तुतः आत्मा का बन्ध और मोक्ष तो गुणों के कारण है स्वतः नहीं।

ओम् : श्लोकान्त में ओंकार का उच्चारण मंगलार्थक है। – शि स्वरूप अर्थात् स्वद्घन आत्मा ओंकार स्वरूप है और वहीं मैं हूँ, ऐसा तात्पर्य भी यहाँ ग्राह्य है। नृसिंह सरस्वती की 'ओमेति यत् परब्रह्म तदेवाहमित्यन्वयः' व्याख्या से यही तात्पर्य प्रकट होता है। 'ओम्' स्वीकृति का भी द्योतक है। गुरूपदिष्ट आत्मा के नित्ययुक्त स्वरूप को स्वीकार करता हुआ साधक उससे अपना तादात्म्य प्रकट करता है।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय विकल्पों के विलीन हो जाने की अपेक्षा से अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में उसके आकार से आकारित चित्तवृत्ति का आत्यन्तिक रूप से स्थित हो जाना निर्विकल्पक समाधि है। उस समय अद्वितीय वस्तु के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का भान न होकर अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) मात्र का ही भान होता है, जैसे जल में घुलने पर जल का आकार या स्वरूप धारण करने वाले नमक का भान नहीं होता, जल मात्र का ही भान होता है। इसी से सुषुप्ति और इस निर्विकल्पक समाधि में अभेद होने की शंका ही नहीं होती है, क्योंकि दोनों में चित्तवृत्ति का भान न होने की समानता होने पर भी समाधि में उसका अस्तित्व होने और सुषुप्ति में न होने से इन दोनों का भेद सिद्ध होता है।

निर्विकल्प के इस लक्षण से सुषुप्ति और समाधि में अभेद होने की शंका भी उठती है किन्तु वह निराधार है। जैसा कि वेदान्तसारकार ने उक्त व्याख्येय पाङ्क्तियों ने कहा है, सुषुप्ति की अवस्था में चित्तवृत्ति अज्ञान में विलीन हो जाती है और उसकी सत्ता भी समाप्त हो जाती है, जबकि निर्विकल्पक समाधि में चितवृत्ति की सत्ता बनी रहती है। केवल उसका निरोध हो जाता है। यही बात माण्डूक्यकारिका में भी कही गयी है – ''लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते। तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः।।''(3/35) अर्थात सुषुप्ति मंव चित्त अपने कारण अज्ञान में लीन हो जाता है जिससे उसका अभाव हो जाता है किन्तु निर्विकल्पक समाधि में निगृही हो जाने से उसका केवल भान नहीं होता, लय न होने से अस्तित्व तो रहता ही है। इसमें प्रमाण यह है कि समाधि से उठने पर अर्थात् व्युत्थान काल में समाधिकालक वृत्ति का योगी ''मैं इतने काल तक समाधि में था'' इस रूप में स्मरण होता है और स्मरण सदैव अनुभव–मूलक होता है– यह तो सर्वविदित ही है। इस प्रकार समाधिकालिक चित्तवृत्ति के स्मरण से उस काल में उसके अस्तित्व का अनुमान होता है। यह निगृहीत चित्त कालान्तर में अज्ञानकृत ग्राह्य ग्राहक रुप भय द्वेय से रहित होकर अद्वय – अभय ब्रह्म हो जाता है, जैसा कि उक्त कारिका (माण्डूक्य) के शांकरभाष्य (3/35) से स्पष्ट है।

निर्विकल्पक समाधि के अङ्ग हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– ये यम है। शौच,सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान – ये नियम हैं। हाथ, पैर आदि को किसी स्थिति विशेष में रखना ही जिनका लक्षण है, पद्म, स्वस्तिक आदि आसन हैं।

जिनका लक्षण रेचक, पूरक और कुम्भक करना है, प्राणवायु को निग्रहीत– नियन्त्रित करने के उपाय प्राणायाम कहलाते हैं । इन्द्रियों को अपने–अपने विषयों से हटा लेना प्रत्याहार है। अद्धितीय वस्तु में अन्तःकरण को लगाना धारणा है। अद्वितीय वस्तु में अन्तःकरण की वृत्ति का रूक–रूककर प्रवाहित होना ध्यान है। समाधि तो पूर्वोक्त सविकल्पक ही है।

अस्याङ्गानि यमनियम.... समाधयः इस वाक्य में निर्विकल्पक समाधि के आठ अङ्ग गिनाये गये हैं। पातञ्जल योगसूत्र (2/29) में भी यमनियमासनप्राणायाम–प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि'' में योग के आठ अङ्ग कहे गये हैं। इससे यह तथ्य प्रकट होता है कि शाङ्करवेदान्त योगादर्शन को साधन प्रक्रिया की उपयोगिता को स्वीकार करता है। ब्रह्मसूत्र (2/1/3) ''एतेन योगः प्रयुक्तः'' के भाष्य में शङ्कराचार्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि यद्यपि योगदर्शन का एक अंश अर्थात सिद्धान्त–पक्ष में अद्वैत वेदान्त से स्पष्ट मतभेद है, तथापि एक अंश अर्थात् प्रक्रिया पक्ष में सम्प्रतिपत्ति, साम्य, ऐकमत्य है। किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि योगाङ्गों को अद्वैत वेदान्त में स्थान देने की प्रवृत्ति परवर्ती आचार्यो में विशेष रूप से देखी जाती है। परिव्राजकाचार्य सदानन्द यति ऐसे अद्वैतियों में अग्रगण्य है। आठ अंगों पर क्रमवार चर्चा आगे की जा रही है –

यम : यम (उपरने) धातु से ''यमः समुपनिलिषुच'' अष्टाध्यायी 3/3/63) सूत्र से अप् प्रत्यय लाने पर निष्पन्न होता है। ''शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत् कर्म तद्यमः'' (अमरकोष 2/7/48) के अनुसार शरीर रूप साधन से नित्य किया जाने वाला कर्म 'यम' है। इसे स्पष्ट करते हुए कृष्ण मित्र ने '' यच्छत्यनेनेति यमः शरीर मात्रेण साध्यं यावज्जीवं कर्म सत्यास्तेयादि'' कहा है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा सत्य आदि पञ्च यम यावज्जीवन करणीय है, जबकि 'नियम' यावज्जीवन करणीय न होकर हेतु विशेष से समय–समय पर करणीय है।

''यच्छत्यनेनेति यमः'' इस इस विग्रह का तात्पर्य है कि जिस अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह रुप निषेधात्मक कर्म पञ्चक द्वारा अपने को हिंसा, असत्यभाषण, स्तेय, अर्थात् चोरी, मैथुन तथा आध्यात्मिक साधना के लिए अनेपक्षित पदार्थ के संग्रह आदि निषिद्ध कर्मों को करने से रोकता है, वे नियंत्राणत्मक कर्म 'यम' है। इन नियन्त्रणत्मक कर्मों से इन्द्रियाँ नियंत्रित होती है। इन पाँच कर्मों के स्वरूप इस प्रकार हैं – ''वाङ्मनःकार्यैः परपीडावर्जनभहिसा'' (विद्वान्मनोरंजनी) ''अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतामनाभिद्रोहः''(योगभाष्य)। अर्थात् वाणी, मन और शरीर से दूसरों को पीड़ा न पहुँचाना, सर्वथा सर्वदा सभी प्राणियों के साथ द्रोहरहित होना अहिंसा है। ''सत्यं यथार्थभाषणम्'' अर्थात् यथार्थभाषण करना 'सत्य' है। यह यथार्थ भाषण सर्वभूतहितकर होना चाहिए। यदि किसी यथार्थ भाषण से किसी प्राणी को कष्ट होता है तो ऐसा सत्य पुण्य नहीं प्रत्युत पुण्याभास अर्थात पाप का ही कारण होगा, क्योंकि पूर्वोक्त अहिंसा का अतिक्रमण इससे होता है।

स्वेच्छा से न दी हुई परायी वस्तु को ग्रहण करने से बचना ''अस्तेय'' है। इतना ही नहीं परायी वस्तु के प्रति स्पृहा तक न होना अस्तेय है, क्योंकि किसी वस्तु के अपहरण के पूर्व ही एतद्विषयक भाव मन में उठते हैं जो अस्तेय क्रिया की निष्पत्ति के प्रथम पाद न्यास है। अत एव दूसरे की वस्तु का केवल अपहरण करना ही नहीं अपितु उसके प्रति स्पृहा भी न करना ''अस्तेय'' है।

''गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः'' ''ब्रह्मचर्य'' है – (व्यासभाष्य 2/30) अर्थात उपस्थ (जननेन्द्रिय) नामक गुप्तेन्द्रिय का निग्रह। अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि जितेन्द्रिय व्यक्ति का अपनी उपस्थेन्द्रिय पर संयम रखना ब्रह्मचर्य है। तात्पर्य यह है कि मात्र उपस्थेन्द्रिय पर नियंत्रण से ही ब्रह्मचर्य सम्भव नहीं है, अपितु स्मरणादि मैथूनों को भी त्यागकर वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। इसीलिए रामतीर्थ का कथन है – ''ब्रह्मचर्यभष्टाङ्गमैथुनवर्जम्''। अपरिग्रह है–''समाध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्यासंग्रहः (विद्वान्मनोरंजनी)। अर्थात समाधि के अनुष्ठान में अनपेक्षित वस्तुओं का परित्याग। साधक को चाहिए कि वह जिन और न्यूनातिन्यून कौपीन, दण्ड, कमण्डल, आसन इत्यादि वस्तुओं की जितनी अपेक्षा हो उतनी ही अपने पास रखे एवं उससे अधिक का परित्याग कर दे।

नियम : यस की तरह नियम – यम की तरह नियम भी पांच है – ''शौचसन्तोषतप–स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'' (योगसूत्र 2/32) इसके पूर्व यम के स्वरूप पर विचार करते समय नियम के स्वरूप भी संक्षेप से विचार किया गया है । वहाँ यम को यावज्जीवन किया जाने वाला कहा गया है, जब कि 'नियम' को एक मत से नित्य और दूसरे मत से अनित्य अर्थात् हेतु विशेष से कभी–कभी (दिन भर नहीं) किया जाने वाला कर्म है। इसी प्रकार योगभाष्योक्त कृच्छ्र, चान्द्रायण, सान्तपन इत्यादि व्रत रुप तप भी हेतु विशेष से समय विशेष पर किये जाने वाले व्रत है। स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, चित्त मलों का आक्षालन रूप आभ्यन्तर शौच तथा सन्तोष तो नित्य ही करणीय हैं। इस प्रकार 'नियम' के अन्तर्गत जो कर्म हैं– नित्यानित्य – उभयात्मक है ऐसा प्रतीत होता है।

शौच : जैसा कि अभी कहा गया, बाह्न तथा आभ्यान्तर के भेद से शौच दो प्रकार का होता है। इसके विषय में याज्ञवल्क्य गीता का कथन इस प्रकार है – ''शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्नमाभ्यातरं तथा मृज्जलाभ्यां स्मृत बाह्नं भावशुद्धिस्तथान्तरम्।'' ईश्वर गीता में भी प्रायः ऐसा ही कहा गया है –

> ''बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।
> मृज्जलाभ्यां भवेद् बाह्य मनः शुद्धिरथान्तरम्।।''

योगभाष्याकार ने योगसूत्र (2/32) की व्याख्या करते हुए शौच को ''मृज्जलाद्विजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्नम्, आभ्यन्तर चित्तमलानामाक्षालनम्'' कहा है। तात्पर्य यह है कि मिट्टी, जल, गोबर इत्यादि से शरीर आदि की सफाई करना और शुद्ध पवित्र वस्तुओं को ही खाना पीना बाह्य शौच है। बाह्य मलिनता से आभ्यन्तर अर्थात चिन्तन भी मलिन हो जाता है यह सर्वानुभूत और सर्वविदित है। इसीलिए बाह्य शौच सर्वथा अपेक्षित है। किन्तु अन्ततः तो यह भी आभ्यन्तरिक शौच एवं तज्जन्य चित्त प्रसाद के लिए ही होता है, अतः आन्तरिक शौच ही मुख्य है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मान, ईर्ष्या, ... खिन्नता आदि आन्तरिक अशौच है। उक्त दोनों प्रकार के शौच से प्रसनन एवं एकाग्र मन से ही साधक इन्द्रिय निग्रह से समर्थ होकर अनेक विघ्न पार करके क्रमशः आध्यात्मिक साधना के उच्च उच्चतर सोपानों पर आरुढ़ होता हुआ अन्नतः आत्मसाक्षात्कार के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ होने में समर्थ हो जाता है।

सन्तोष : टीकाकार रामतीर्थ ने ''सन्तोष लाभसन्तुष्टिरलाभे चानिषादः'' (विद्वन्मनोरंजनी) कहा है। अर्थात प्रारब्धानुसार प्राप्त वस्तुमान से संतुष्टि और न प्राप्त वस्तु के प्रति अविषाद ही सन्तोष है। भारतीय मनीषियों ने सन्तोष को परमसुख कहा है। अनिच्छा अथवा परेच्छा किसी से प्रारब्धहीन अनुकूल या प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति

य–च्छालाभ है। व्यासदेव ने योगभाष्य में ''सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा'' को सन्तोष कहा है। अर्थात (प्रारब्ध) उपस्थित जीवन साधन से अधिक के संग्रह की इच्छा का अभाव ही सन्तोष है।

तप : योगभाष्य के अनुसार भूख–प्यास, शीत उष्ण खड़ा उठना–बैठना काष्ठवत पूर्ण मौन वाचिक मौन तथा शरीर की अनुकूलता के अनुसार कृच्छ चान्द्रायण सान्तपन इत्यादि व्रत द्वन्द सहन है। इङ्गित अर्थात इशारे से भी अपने मन्तव्य को न प्रकट करना काष्ठ मौन है। मुँह से कुछ ना बोलना मौन है; यद्यपि इंगित के द्वारा स्वाभिप्राय प्रकाशन वर्जित नहीं है। भूख–प्यास में शीत–उष्ण की भांति परस्पर विरोध न होने पर भी मिथुन भाव होने में द्वन्द्वता कही जाती है।

स्वाध्याय : ''स्वाध्यायायान्मा प्रमदः'' (तैत्तिरीय उप. 1/11/1) इत्यादि श्रुति वचनों द्वारा स्वाध्याय का महत्व प्रकट किया गया है। स्वाध्याय उपनिषद आदि आध्यात्मिक शास्त्रों का जैसा कि ''उपनषिदमावर्तयेत्'' इत्यादि वचनों द्वारा विहित है। योगभाष्यकार ने 'स्वाध्याय' को ''प्रणवादि पनित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा'' (योगभाष्य 2/1/32) अर्थात ओङ्कारादि पवित्र मंत्रों तथा उपनिषदादि मोक्षशास्त्रों का अध्ययन बताया है। प्रणव का अर्थ है – ऊँ। जिस प्रतीक के द्वारा ब्रह्म की स्तुति की जाये वह प्रणव है। एकाक्षर और ब्रह्मा का प्रतीक होने से ही इसे गीता में एकाक्षर कहा गया है– ''ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म..''। इस प्रणवात्मक ऊँ का जप–चिन्तन ''ओमित्येवं ध्यायथ'', ''ओमित्येत दक्षरमुद्गीथनुपासत'' इत्यादि श्रुति वचनों में प्रतिपादित है।

ईश्वर प्राणिधान : योगभाष्य के शब्दों में ''ईश्वर प्राणिधानं सर्वक्रियाणां परम गुरावर्पणं तत्फल सन्यासो वा '' (योगभाष्य 2/1) है। योग सूत्र (2/32) ''शौच सन्तोष तप. स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि नियमाः'' के भाष्य में 'ईश्वरप्राणिधानं परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्'' कहा गया है। इस प्रकार स्व त समस्त वैदिक–लौकिक कर्मों को अथवा उनके फलों को परमगुरू परमेश्वर की समर्पित कर देना ईश्वर–प्राणिधान है।

आसन : महर्षि पतञ्जलि कहते है – ''स्थिरसुखमासनम्'' (योगसूत्र 2/46) स्थिरं च तत् सुखं चेति स्थिरसुखम् – अर्थात (जो निश्चल तथा सुखकर हो। पद्मासन, वीरासन, भद्रासन इत्यादि आसनों के उल्लेख में योगभाष्य इत्यादि ग्रन्थों में हुए है। अपरोक्षानुभूति (112) में कहा गया जिस स्थिति में सुख से निरन्तर ब्रह्म चिन्तन होता रहे, उसे 'आसन' कहते हैं।

प्राणायाम : प्राणायाम में रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन क्रियाएँ करनी होती है। प्राणवायु को नासिका के किसी एक छिद्र से विशेषरूप से बहार निकालना 'रेचक' कहलाता है। जिस नासिका छिद्र से रेचक किया गया हो उसी नासिका छिद्र से प्राणवायु को अन्दर खींचना 'पूरक' कहलाता है। पूरक से धीरे–धीरे खींची गई वायु को अन्दर रोक रखना या प्रश्वास वायु को बाहर रोक रखना 'कुम्भक' कहलाता है। योगसूत्र (2/49) के वचन – ''तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयो गतिविच्छेदः प्राणायामः'' के अनुसार, आसन के सिद्ध हो जाने पर बाहर से अन्दर खींची जाने वाली श्वास वायु एवं अन्दर से बाहर निकाली जाने वाली प्रश्वास वायु की स्वाभाविक गति का विच्छेद 'प्राणायाम'' है।

प्रत्याहार : इन्द्रियों का अपने अपने विषयों से हटकर चित्त के स्वरूप का सा हो जाना 'प्रत्याहार' है। योग सूत्र (2/54) में कहा गया – '' स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपाकार इवेन्द्रियाणी प्रत्याहारः।'' अपरोक्षानुभूति के अनुसार, समस्त सांसारिक

विषयों का आत्मभाव का दर्शन कर मन को उसी में लीन कर देना ''प्रत्याहार'' कहलाता है।

धारणा : योगसूत्र (3/1) ''देश बन्धाश्चित्रस्य धारणा'' एवं इसके भाष्य के अनुसार, नाभिचक्र, हृत्पुण्डरीक, शीर्ष ज्योति, नासिका इत्यादि आन्तरिक अथवा देवमूर्ति इत्यादि बाह्ृ देश में चित्त को सात्विक वृत्ति द्वारा बाँधना ''धारणा'' है। अपरोक्षानुभूति के अनुसार, मन का सर्वत्र ब्रह्म को देखना एवं उसी स्थिर हो जाना सर्वोत्तम धारणा है। इसी के अनुरूप सदानन्द का वेदान्तसार में ''अद्विनीचे वस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा'' लक्षण है, जिसकी व्याख्या करते हुए नृसिंह सरस्वती ने ''सर्वेषां बुद्धिसाक्षित विद्यमानेऽद्वितीयवस्तुनि चित्तनिक्षेपणं धारणा'' ऐसा कहा है।

ध्यान : योगदर्शन में चित्तवृत्ति का तैलधारावत् अद्वितीय ब्रह्म में प्रवाहित होना ध्यान कहा गया है – ''तत्र प्रत्यैक्तानता ध्यानम्'' (3/2) अद्वैत वेदान्त में इसे थोड़ा भिन्न माना गया है। ''वेदान्तसार'' ग्रन्थ में चित्तवृत्ति का रुक रुक कर (जलधारावत्) प्रवाहित होना ध्यान कहा गया है। योग के 'ध्यान'की अवस्था यहाँ ''सविकल्पक समाधि'' की अवस्था के अनुरूप प्रतीत होती है।

समाधि : वेदान्तसार में निर्विकल्पक (समाधि) के आठवें अङ्ग के रूप में जो समाधि बतायी गयी है वह पूर्वोक्त सविकल्पक समाधि ही है। (समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव) जिसमें ज्ञाता, ज्ञान आदि द्वैत की प्रतीति रहने पर भी अद्वैत तत्त्व की प्रतीति ठीक उसी प्रकार होती है, जैसे मिट्टी के बने हाथी में हाथी की प्रतीति होने के साथ ही उसके उपादान या मूलतत्व मिट्टी की भी प्रतीति होती है।

आठ अङ्गों वाली इन निर्विकल्पक समाधि में लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद नामक चार विघ्न होते हैं। निर्विकल्पक की सिद्धि यमादि आठ अङ्गों के सम्यक् अभ्यास से सम्पन्न होती है। किन्तु यमादि के सम्यक् अभ्यास रहने पर भी कभी–कभी निर्विकल्पक अभ्यास में अवरोध या विघ्न उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण निर्विकल्पक समाधि की सिद्धि में विलम्ब होता है और कभी–कभी तो सिद्धि नहीं हो पाती। ये विघ्न या अवरोध चार हैं, जो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद नाम से जाने जाते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में समाधि के चारों विघ्न बताये गये हैं जिनका स्वरूप इस प्रकार है –

लय : जब योगी का चित्त शब्दादि बाह्ृ विषयों का ग्रहण न करता हुआ ब्रह्म का भी ग्रहण करने में आलस्य कर जाता है, ग्रहण करने से विमुख हो जाता है, तब यह 'लय' कहलाता है। समाधि काल में जब चित्त शब्दादि विषयों से विरत हो ब्रह्म की ओर अग्रसर होता है, किन्तु आलस्य कारण उसका भान न होने से निद्रित हो जाता है तो यह समाधि का ''लय'' नामक विघ्न कहा जाता है।

विक्षेप : यदि विषयों से विरत चित्त अखण्ड वस्तु की ओर अग्रसर हो किन्तु उसे न प्राप्त कर पाने की दशा में पुनः विषयों का चिन्तन करने लगा लग जाये तो यही ''विक्षेप'' है।

कषाय : लय और विक्षेप का विजयी चित्त अनेक जन्मों के विषयासक्ति के संस्कार के कारण न ती अद्वितीय वस्तु का अवलम्बन कर पाता और न ही निक्षेप पर विजय प्राप्त कर लेने से विषयों की ओर ही उन्मुख होता है, तो विषय एवं ब्रह्म दोनों ने अवलम्बन के अभाव में स्तब्ध हो जाता है। यही ''कषाय'' है।

रसास्वाद : जब चित्त अखण्ड अस्तु का अवलम्बन न करता हुआ भी उस अखण्ड वस्तु का सविकल्पक समाधि की स्थिति में रसास्वादन करता है, तब यह ''रसास्वाद'' नामक विघ्न है। यह अद्वैतरहित द्वैत की स्थिति का आनन्द होता है।

उक्त विघ्नों से रहित चित्त का जब अखण्ड चैतन्य के साथ अभेद उत्पन्न हो जाता है, तब यह स्थिति निर्विकल्पक समाधि कही जाती है। अब ''अनेन विघ्नचतुष्टयेन'' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा ग्रन्थकार उक्त कथन को प्रतिपादित करते हैं। इस प्रकार चारों विघ्नों की निवृत्ति हो जाने पर योगी का चित्त वायु रहित प्रदेश में रखे गये दीपक की लौ की भांति निश्चल हो जाता है। जैसा कि माण्डूक्यकारिका (3/46) में कहा गया है – अर्थात् जब चित्त न लय को प्राप्त होता है और न ही विक्षेप को एवं वायु रहित प्रदेश में रखे दीपक की लौ के समान निश्चल होकर अपना अवभास खो देता है तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

15.3 जीवन्मुक्ति – अथ जीवन्मुक्ति से विमुच्यते'' इत्यादिश्रुतेः पर्यन्त (65-68)

इस प्रकार समाधि पर्यन्त साधनों के अनुष्ठान से पूर्वोक्त प्रकार से आत्म–साक्षात्कार हो जाने पर अविद्या और उसका समस्त कार्य (संसार) निवृत्त हो जाता है। यदि उसी समय प्रारब्ध का भोग समाप्त होने से योगी का शरीर–पात हो जाय तो उसे सद्य मुक्ति मिल जाती है उसे ''विदेहमुक्ति'' कहा जाता है। ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में लीन हो जाता है, उसके साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है। किन्तु प्रारब्ध के शेष रहने पर भोग द्वारा उसका क्षय होने तक ब्रह्मवेत्ता का शरीर उसी प्रकार चलता रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई चाक उसके हटा लिए जाने पर पूर्व वेगारब्ध संस्कार से तब तक चलती रहती है जब तक कि वह वेग चक्कर काटने से समाप्त नहीं हो जाता। ''तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभामिवद् घृतशरीरः'' (सांख्य कारिका 67) कथन द्वारा ईश्वर भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। शरीर धारण करते हुए बन्धन–विमुक्त होने से उसे ''जीवन्मुक्त'' (जीवन् एव मुक्तो जीवन्मुक्तः) कहा जाता है।

जीवन्मुक्त का लक्षण

अथ जीवन्मुक्त लक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन
तदज्ञानबन्धनद्वारा स्वस्वरूपखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्य
सञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः। भिद्यते
हृदयग्रान्थिश्चिद्यन्ते सर्वशंसयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे
इत्यादिश्रुतेः।

अब ग्रन्थकार ''जीवन्मुक्त'' का लक्षण कहते है – जीवन्मुक्त वह है जो अपने स्वरूप भूत अखण्ड ब्रह्म के ज्ञान से तद्विवयक अज्ञान के बाध द्वारा अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान और उसके कार्य, संचित कर्म, संशय, विपर्यय आदि के भी बाधित हो जाने पर सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मवेत्ता) है। यह लक्षण श्रुति – मुण्डकोपनिषद (2/2/8) से प्रमाणित होता है।

जीवन्मुक्त का शारीरिक व्यवहार

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेण,
आन्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजने–नेन्द्रियग्रामेण, अशनायापिपासाशोकमोहादि

भाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात् परमार्थतो न पश्यति यथेन्द्रजालमिदमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमपि न पश्यति। 'स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादि श्रुतेः। उक्तं च –

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।

तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, स आत्मा विन्नान्य इतीह निश्चयः।72।

अस्य ज्ञानात् पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनां मनुवृत्तिवच्छुभलासनानामेवानुवृत्तिर्भवति, शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा। तदुक्तम् –

शुनां तत्त्वद्रशांचौव को भेदाऽशुचि भक्षणा।। इति।।

'ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः।। इति।।73।

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते। तदुक्तम्–

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।

अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः।। इति ।।74।

यह जीवन्मुक्त समाधि से उठने पर, माँस रक्त, मल मूत्र आदि के भाजन (पात्र) शरीर के द्वारा , अन्धता . मन्दता–पटुता आदि के भाजन इन्द्रिय समूहों द्वारा, भूख–प्यास, शोक–मोह आदि के भाजन अन्तःकरण के द्वारा पूर्व– पूर्व वासना से किये जाते हुए (क्रियमाण) कर्मों को तथा भोगे जाते हुए ज्ञानाविरोधी प्रारब्ध (कर्मों) के फलों को साक्षीभाव से देखता हुआ भी अज्ञान के बाधित हो जाने से वस्तुतः (परमार्थतः) नहीं देखता। जैसे यह इन्द्रजाल है ऐसा जानने वाला व्यक्ति उस इन्द्रजाल को देखता हुआ भी 'यह सत्य है' ऐसा वस्तुतः नहीं देखता। यह बात उद्धृत श्रुतिवाक्य ''सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोदकर्ण इव'' इत्यादि तथा उपदेशसाहस्री (10/3) के ''सुषुप्तवज्जाग्रति'' इत्यादि वचनों द्वारा प्रमाणित होती है।

जीवन्मुक्त का बाह्य लक्षण

किं बहुनाऽयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभ्यासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्द परब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञान तत्कार्यं संस्काराणामपि विनाशात् परमकैवल्यमानन्दैकसमखिलभेद प्रतिभासरहितमखण्डं ब्रह्मावतिष्ठते। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, अत्रैव तमवलीयन्ते' 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इत्यादिश्रुतेः।।75।।

इस जीवन्मुक्त में ज्ञान से पूर्व होने वाले (चिर अभ्यस्त) आहार–विहार की ही तरह , शुभ संस्कारों की ही अनुवृत्ति होती है। अथवा शुभ और अशुभ दोनों के ही प्रति उसमें उदासीनता हो जाती है। नैष्कर्म्य सिद्धि (4/62) में कहा गया है कि जिसको अद्वितीय आत्मतत्व के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार हो गया है, ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष की यदि स्वेच्छाचरण करे, तो अभक्ष्य–भक्षण करने के विषय में कुत्तों और तत्वदर्शियो में भेद ही क्या रह जायेगा? उपदेशसाहस्री (12/13) में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञाता के अभिमान को छोड़ कर ही वह आत्मज्ञ बनता है, कोई अन्य (आत्मज्ञ) नही बन सकता है?

उस समय (जीवन्मुक्तावस्था में) अभिमान राहित्य आदि ज्ञान के साधन का द्वेषराहित्य आदि सद्गुण अलंकार के समान अनुवर्तित होते रहते हैं। नैष्कर्म्य सिद्धि (4/69) के अनुसार – जिसको आत्म साक्षात्कार हो गया है, उसे द्वेष–राहित्य आदि गुण बिना प्रयास के ही सिद्ध हो जाते हैं साधन के रूप में नहीं रहते प्रत्युत सहज–स्वाभाविक बन जाते है। निष्कर्ष रूप में ग्रन्थकर कहते कि यह जीवन्मुक्त केवल शरीर चलाने भर के लिए स्वेच्छा, अनिच्छा या परेच्छा से प्राप्त कराये गये प्रारब्ध (कर्म) के सुख–दुःख रूप फलों का निर्लेपभाव से अनुभव करता हुआ अन्तःकरण की विषयाकार वृत्तियों को साक्षी रूप से प्रकाशित करता हुआ, उस प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर प्रत्यगानन्द रूप परब्रह्म में प्राण के लीन हो जाने पर प्रारब्धकर्माक्षिप्त अज्ञान और उसके प्रपञ्च रूप कार्यों तथा संस्कारों का भी पूर्वसिद्ध ज्ञान से विनाश हो जाने पर, परम कैवल्य रूप आनदैकरस समस्त भेद प्रतीतियों से रहित, अखण्ड ब्रह्मरूप में स्थित होता है। यह बात ''न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'' (बृहदा. 4/4/6), ''अत्रैव समवलीयन्ते'' श्रुतियों से प्रमाणित होती है।

विशेष : अब 'अथ जीवन्मुक्त' इत्यादि पंक्ति द्वारा जीवन्मुक्त का लक्षण कहा जा रहा है। जीवन्मुक्त वह है जो अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म के ज्ञान से तद्विषयक अज्ञान के बाध द्वारा अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान और उसके कार्य, संचित कर्म, संशय, विपर्यय आदि के भी बाधित हो जाने पर सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मवेत्ता) है। ग्रन्थकार जीवनमुक्त के पूर्वोक्त लक्षम की 'भिद्यते' इत्यादि श्रुति (मुण्डकोपनिषद् 2/2/8) से प्रमाणित करते हैं। इसका तात्पर्य इस प्रकार है– उस परापर, अर्थात् कारणकार्यात्मक (सर्वात्मक) ब्रह्म का आत्मभाव से दर्शन कर लेने पर इस जीवन्मुक्त के हृदय को गांठे खुल जाती हैं, सभी प्रकार के संशय नष्ट हो जाते हैं, एवं प्रारब्ध को छोड़कर सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं।

'जीवन्मुक्त' शब्द का अर्थ है – जीते हुए ही मुक्त–कर्म–बन्धनों से रहित हो जाना। साधक को यह स्थिति तब तक प्राप्त होती है जब वह चित्त के कर्तृत्व–भोक्तृत्व, सुख–दुःखादि धर्मों को आत्मधर्म समझना बन्द कर देता है। यह स्थिति उसे तब तक प्राप्त होती है जब उसे ब्रह्म के साथ अपनी अभिन्नता, अपने ऐक्य का ज्ञान होने के अनन्तर ब्रह्म साक्षात्कार के उदय के साथ ही अज्ञान देहबुद्ध्यास का बोध नहीं हो जाता है। अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही अज्ञान और अज्ञानमूलक सम्पूर्ण प्रपंच की निवृति हो जाती है, जिससे साधक चित्त धर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसी तथ्य को ग्रन्थ में उद्धृत मुण्डक–श्रुति 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इत्यादि श्लोक द्वारा कहा गया है। श्रवण–मननादि साधन के अनुष्ठान से जो ब्रह्मज्ञुन अपेक्षित है, वह साधन–रूप परोक्त ब्रह्मज्ञान होता है। यह श्रुत मत ज्ञान सतत निदिध्यासन के द्वारा कालान्तर में साक्षात्कार अर्थात् उपरोक्त ब्रह्मज्ञान में परिमत हो जाता है।

संचितकर्मशंसयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वाद्' इस वाक्य में 'तदज्ञानबाधन द्वार' यह पद ब्रह्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का उदय होने पर पहले ब्रह्म विषयक अज्ञान का विनाश होता है, तब ब्रह्म–साक्षात्कार होता है। तब न अज्ञआन रहता है, न संसार और न चित्तवृत्ति एवं चिदाभास ही, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर सदसदनिर्वचनीय अज्ञान एवं तज्जन्य सूक्ष्म एवं स्थूल कार्य बाधित हो जाते हैं।

प्रस्तुत खण्ड में 'संचित' तथा अगले खण्ड में क्रियमाण और प्रारब्ध का उल्लेख है। ये कर्म तीन प्रकार के होते हैं– संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्म। इनमें

ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व किये गये कर्म, जिन्होंने अभी फल देना प्रारम्भ नहीं किया है, संचित कर्म कहलाते हैं। जिन कर्मों का भोग जीव को प्राप्त हो रहा है, जिनके कारण वर्तमान शरीर है प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। क्रियमाण कर्म वे हैं जिन्हें व्यक्ति इस जन्म में करता है। यहां जो संचित कर्मों का बाधित होना कहा गया है उन (संचित कर्मों) में क्रियमाण कर्मों का भी अन्तर्भाव है क्योंकि ज्ञानोदय के पूर्व क्रियमाण कर्म तो संचित की कोटि में आ जाते हैं और ज्ञानोत्तर काल में तथाकथित क्रियमाण कर्म कर्तृत्व बुद्धि के न होने से स्वतः बाधित हो जाते हैं, बनते ही नहीं। अत एव मात्र प्रारब्ध कर्म ही शेष बचते हैं। उनका बिना भोग के नाश नहीं होता। ध्यान देने योग्य है कि मन, वाणी और शरीर से क्रियमाण जो भी कर्म हैं, वे क्रिया के समाप्त होते ही संचित कर्म हो जाते हैं।

'संशय विपर्ययादीनामपि बाधितत्वात्' इस वाक्य में प्रयुक्त पदों का तात्पर्य इस प्रकार है। देहादि से भिन्न शुद्ध चैतन्यात्मा के अस्तित्व में विचिकित्सा होना, अथवा ब्रह्मात्म विज्ञान से मोक्ष होता है या नहीं, ऐसी विकल्प बुद्धि का प्रकट होना 'संशय' है। देहादि आत्मा से भिनन पदार्थों में आत्मबुद्धि का होना 'विपर्यय' या 'विपरीत ज्ञान' है। जीवन्मुक्ति के समय संचित कर्म के साथ शंसय, विपर्यय तथा बाह्य प्रपंच में सत्यत्व की धारणा भी बाधि हो जाती है।

जीवन्मुक्त के लक्षण में प्रयुक्त 'ब्रह्मनिष्ठ' पद का विशेषण 'अखिलबन्धरहितः' दिया गया है, जिसका तात्पर्य है कि मुक्ति से भिन्न दशा में जीव सांसारिक बन्धनों में जकड़ा रहता है तथा जीवन्मुक्त होने की स्थिति में अखिल ऐहिक एवं आमुष्मिक बन्धनों को तोड़कर अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है। इसी को ब्रह्मनिष्ट कहा जाता है। सुबोधिनी टीका में इस बात के इस प्रकार कहा गया है कि ब्रह्म में निष्ठा अर्थात् 'तदेकपरता' या 'एको भाव' जिसमें है, वह ब्रह्मनिष्ठ है। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि समस्त बन्धों से रहित तथा ब्रह्म में एकीभाव को प्राप्त होने वाला ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञ है।

मुण्डक श्रुति में आये 'तस्मिन् दृष्टि परावरे' वाक्य में 'परावर' ब्रह्म का विश्लेषण है। पूर्वभावी होने से 'पर' कारण को और पश्चाद्भावी हनो से 'अवर' कार्य को कहते हैं। ब्रह्म ही कार्य और कारण दोनों होता है। इसी कारण इसे सर्वात्मक कहा गया है। ब्रह्म से जो कुछ भी भिन्न प्रतीत होता है वह बाधित हो जाता है। शंकराचार्य ने बुद्धि में रहने वाले अविद्यायुक्त काम को हृदयग्रन्थि कहा है जो आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर विनष्ट हो जाती है। वस्तुतः काम को अविद्यावासनाप्रचयः कहने से उसकी ग्रन्थिरूपता स्पष्ट है।

जैसा पहले कहा गया ब्रह्म साक्षात्कार करने वाले के संशय, विपर्यय आदि नष्ट हो जाते हैं, साथ ही साथ कर्मों का भी लय हो जाता है। लेकिन प्रारब्ध कर्म का नहीं, क्योंकि प्रारब्ध कर्म के कारण ही तो वर्तमान शरीर है। भुक्त–शेष प्रारब्ध को जीवन्मुक्ति की स्थिति में भोगना ही है। इसमें 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इत्यादि स्मृतिवाक्य प्रमाण हैं।

जीवनमुक्तशरीर और इन्द्रिय व्यवहार –अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जीवन्मुक्त शरीर और इन्द्रियों से व्यवहार करता है या नहीं? करता है तो बद्ध पुरुष एवं जीवन्मुक्त में क्या अन्तर है? इसे ग्रन्थकार 'अयं तु व्युत्थानसयमे........ परमार्थतो न पश्यति' इन वाक्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं। यह जीवन्मुक्त समाधि से उठने पर, मांस रक्त–मल–मूत्र आदि के भाजन (पात्र) शरीर के द्वारा, अन्धता, मन्दता, पटुता आदि के

भाजन इन्द्रिय समूह के द्वारा, भूख–प्यास–शोक–मोह आदि के भाजन अन्तःकरण के द्वारा पूर्व पूर्व वासना से किये जाते हुए (क्रियमाण) क्रमों को तथा भोगे जाते हुए ज्ञानाविरोधी प्रारब्ध (कर्मों) के फलों को साधितभाव से देखता हुआ भी अज्ञान के बाधित हो जाने से वस्तुतः यानी परमार्थरूप से नहीं देखता। आगे ग्रन्थकार इन्द्रजाल (जादू) का उदाहरण देकर बताते हैं कि जैसे यह इन्द्रजाल है ऐसा जानने वाला व्यक्ति उस इन्द्रजाल को देखता हुआ भी 'यह सत्य है' ऐसा वस्तुतः नहीं देखता। श्रुति कहती है – 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' अर्थात् वस्तुतः आँख वाला होने पर भी आँख रहित की भाँति तथा कान वाला

प्रस्तुत खण्ड में 'अयं तु व्युत्थानसमये....... परनमार्थतो वा पश्यति' यह वाक्य बद्ध तथा जीवन्मुक्त का भेद स्पष्ट करने के लिए कहा गया है। बद्ध और जीवन्मुक्त, दोनों ही शरीर और इन्द्रियों आदि से समान व्यवहार करते हैं। लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि बद्ध व्यक्ति अज्ञान के कारण अर्थात् निग्रह, संयम, नियमादि पूर्वोक्त साधनाओं के अभाव के कारण इन्द्रिय और शरीर के प्रति क्रमशः कर्ता एवं भोक्ता का भाव रखता है, जिससे इनसे होने वाले सुख दुःख के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। इसके विपरीत जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञान द्वारा अज्ञान का विनाश हो जाने से उक्त प्रकार के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के भाव से रहित हो जाता है। इसी कारण वह क्रियमाण कर्मो फलों में अलिप्त रहता है तथा इन्द्रजाल के करतबों की भाँति ही अज्ञानजन्य फलों को मिथ्या समझता है। यह जीवन्मुक्त प्रारब्धभोग की समाप्ति पर शरीर पात के बाद विदेह मुक्ति प्राप्त करता है।

'सचक्षुरक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' अर्थात् जगत् प्रपंच के रूपादि का दर्शन न होने से वह जीवन्मुक्त चक्षुरादि इन्द्रियों से युक्त होने पर भी उनसे रहित सा हो जाता है। अथवा इसका यह भी अर्थ ले सकते हैं कि जीवन्मुक्त देहेन्द्रियादि से व्यवहार करता सा दिखाई पड़ने पर भी परमार्थतः कोई व्यवहार नहीं करता।

अब ग्रन्थकार जीवन्मुक्त के बाह्य लक्षणों को भी 'अस्य ज्ञानात् पूर्वम्' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा प्रतिपादित कर रहे हैं। इस जीवन्मुक्त में ज्ञान से पूर्व होने वाले (चिर अभ्यस्त) आहार–विहार की ही तरह शुभ संस्कारों की ही अनवृत्ति होती है। अथवा शुभ और अशुभ दोनों के ही प्रति उसमें उदासीनता हो जाती है।

प्रस्तुत खण्ड में 'अस्य पूर्व ज्ञानात् पूर्व...............अनुवृत्तिर्भवति' इस वाक्य के द्वारा ग्रन्थगार बता रहे हैं कि ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व साधक को जो आदतें रहती हैं, वे संस्कार रूप में ज्ञानोत्पत्ति के बाद भी बनी रहती हैं। ये आदतें मानसिक एव भौतिक दोनों होती हैं। ज्ञानी का बाह्य आचरण जिस प्रकार से पूर्ववत् अनुवर्तित होता है, उसी प्रकार से उसके आन्तरिक भाव या विचार भी। चूँकि ज्ञानोदय के पूर्व सुदीर्घ काल तक जीवन्मुक्त ने शुभ संस्कारों और विचारों का ही निरन्तर अभ्यास किया किया है, अतः ज्ञानोत्तर काल में भी उन्हीं का अनुवर्तन सम्भव है न कि अशुभ वासनाओं एवं विचारों का। उनकी तो कथमपि सम्भावना नहीं है, क्योंकि ऐसी सम्भवाना का कोई कारण ही नहीं है।

ग्रन्थकार के 'शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा' इस कथन का तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष में या तो शुभवासनाओं की ही अनवृत्ति होती है अन्यथा शुभ–अशुभ दोनों के ही प्रति उपेक्षा भाव आ जाता है। बृहदारण्यक के 'अमौनं मौनं च निर्विद्याय ब्रह्मणः' (3/5/1) वाक्य में 'ब्राह्मण' अर्थात् ब्रह्मभावापन्न जीवन्मुक्त का सर्वत्र समभाव का औदासीन्य ही प्रकट किया गया है।

'ब्रह्मवित्त्वं तथा न चेतरः ' इस वाक्य से ग्रन्थकार बतलाते हैं कि साधक को मैं ब्रह्मविद् हूँ इस प्रकार का अभिमान जब तक रहता है, तब तक समझना चाहिए कि अभी उसे ब्रह्म बोध नहीं हुआ है। साधक का ब्रह्मज्ञता का अभिमान छूट जाता है तभी उसे सच्चा ब्रह्मविद् समझना चाहिए। केनोपनिषद् के 'यदि मन्यसे सुवेदितिदभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्राह्मणो रूपम्' (2/1) तथा 'यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य वेदः सः' (2/3) वाक्य इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं। सत्य तो यह है कि ब्रह्म तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, चिद्रूप है। अतः वह ज्ञाता का अपना आत्मा ही है, ज्ञान का विषय नहीं। फिर उसे जानने का अभिमान होता तो सर्वथा मिथ्याज्ञान या अज्ञान ही है न फिर जिस साधक में यही अभिमान शेष हो वह भला आत्मज्ञ या जीवन्मुक्त कैसे हो सकता है।

आगे ग्रन्थकार 'तदानीममानित्वदीनि' इत्यादि पंक्तियों में कहते हैं कि उस समय (जीवनमुक्तावस्था में) अभिमान राहित्य आदि ज्ञान के साधन तथा द्वेषराहित्य आदि सद्गुण अलंकार के समान अनुवर्तित होते रहते हैं। ऐसा ही नैष्कर्म्य सिद्धि (4⁄69) में कहा गया है— 'जिनको आत्म—साक्षात्कार हो गया है, उसे द्वेष राहित्य आदि गुण बिना प्रयास के ही सिद्ध हो जाते हैं, साधन के रूप में नहीं रहते।

प्रस्तुत खण्ड में 'अलंकारवदनुवर्तन्ते' इस पद को ग्रन्थकार ने प्रस्तुत कर बताया है कि अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षान्ति, आर्जव, आत्मनिग्रह इत्यादि ज्ञान के साधन रूप में गीता में वर्णित है। आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर फल रूप से जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाने पर पूर्वाभ्यासवश इनकी अनुवृत्ति बिना प्रयास होती है। इसी से इन्हें साधन न कह कर जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञ का श्रीवर्धक अलंकार कहा है ग्रन्थकार ने और नैष्कर्म्य सिद्धि के उद्धरण से अपनी बात की पुष्टि की है। यह कहा जा सकता है कि जिसको ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो गया है, उस के द्वेषराहित्य आदि गुण स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

संक्षेपतः यह जीवन्मुक्त केवल शरीर चलाने भर के लिए स्वेच्छा, अनिच्छा या परेच्छा से प्राप्त कराये गये प्रारब्ध (कर्म) के सुख दुःख रूप फलों का निर्लेप भाव से अनुभव करता हुआ, अन्तःकरण को विषयकार वृत्तियों को साधित रूप से प्रकाशित करता हुआ, लीन हो जाने पर प्रारब्धकर्माक्षिप्त अज्ञान और उसके प्रपंचरूप कार्यों तथा संस्कारों का भी पूर्व सिद्ध ज्ञान से विनाश हो जाने से, परम कैवल्य रूप आनन्दैकरस समस्त भेद प्रतीतियों से रहित अखण्ड ब्रह्म रूप में स्थित होता है। इन कथनों को प्रमाणित करने के लिए ग्रन्थकार निम्नांकित श्रुतियों को उद्धृत करते हैं —

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृहदा. 4/4/6) अर्थात् उस (ब्रह्मज्ञ) के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं। 'अत्रैव समवलीयन्ते' (बृहदा. 3/2/11) अर्थात् वे वहीं अर्थात् उस परमात्मा में ही लीन हो जाते हैं। 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ. 2/2/1) अर्थात् (अविद्या कृत कामकर्मादि बन्धनों से) विमुक्त हुआ यह जीवन्मुक्त विमुक्त (अर्थात् विदेहमुक्त) हो जाता है।

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' अत्रैव समवलीयन्ते 'इन श्रुतिवाक्यों में उत्क्रमण का अर्थ है ऊपर की ओर गमन करना। यह वेदान्त दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। प्राण अर्थात् वागादि इन्द्रिय (पञ्च) प्राण मन उससे निकलकर ऊपर की ओर वायु मण्डल से होते हुए कर्मानुसार विभिन्न लोकों को जाते हैं। सामान्य भाषा में इसे ही मृत्यु कहते हैं। अज्ञानी के प्राण तो देह से निकलकर ऊपर जाते हैं और ऊर्ध्वाधो लोकों का भ्रमण करते हुए कालान्तर में पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। किन्तु आत्मज्ञ जीवन्मुक्त के प्राण देह

से निकलकर ऊर्ध्वगमन न करके परमात्मा में लीन हो जाते हैं और कारण के अभाव में पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञ अज्ञानकृत राग द्वेषादि बन्धनों से छूटकर जीवन्मुक्त होता है, फिर शरीरपात होने पर भावी जन्मों के बन्धनों से सदा–सदा के लिए छूटकर विदेह मुक्त हो जाता है।

15.4 सारांश

इस इकाई को तीन भागों में विभक्त किया गया है प्रथम भाग में अपने स्वस्वरूप साक्षात्कार के साधनों विशेषतः श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को जाना। द्वितीय भाग में आपने निर्विकल्पक समाधि के अङ्ग विघ्न तथा निर्विकल्पक समाधि का स्वरूप के बारे में पढ़ा। बाद सम्बद्ध मूल ग्रन्थ पाठ एवं व्याख्या प्रस्तुत है। तीसरे भाग जीवन्मुक्ति में आपने जीवन्मुक्त का लक्षण, जीवन्मुक्त का शारीरिक व्यवहार और जीवन्मुक्त के बाह्य लक्षणों के विषय में जाना।

स्वस्वरूप चैतन के साक्षात्कार के साधन हैं – श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं समाधि। श्रवण का लक्षण– 'श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तनामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्' अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु के प्रतिपादन में तात्पर्य है, इसका छः प्रकार के लिङ्गों से निश्चय करना 'श्रवण' है। वे लिङ्ग हैं– उपक्रम और उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति। उपक्रमोमसंहार है किसी प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उसके प्रारम्भ और अन्त में उपपादन करना। प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का उस के मध्य में पुनः पुनः प्रतिपादन करना 'अभ्यास है'। प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का श्रुति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण द्वारा विषय न बनाया जाना (अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से बोध या ज्ञान न हो होना अपूर्वता है। किसी प्रकरण के प्रतिपाद्य आत्मज्ञान के लिए किये जाने वाले साधनानुष्ठान का जो प्रयोजन उस प्रतिपादित होता है, उसे फल कहते हैं। प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय की स्थान–स्थान पर प्रशंसा करना 'अर्थवाद' है। प्रकरण द्वारा प्रतिपाद्य को सिद्ध या प्रमाणिक करने के लिए स्थान –स्थान पर वर्णित युक्ति 'उपपत्ति' है। जिसका श्रवण किया गया, उस अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का वेदान्त के अनुकूल तर्कों के द्वारा निरन्तर चिन्तन करना ही 'मनन' है। विजायीत (बेमेल) शरीरादि विषयक विचारों को (मन में) प्रवाहित करना ही 'निदिध्यासन' है। समाधि से उठना (व्युत्थान) एवं निरोध के संस्कारों के अभिभव और प्रादुर्भाव होने पर चित्त की एकाग्रता का परिणाम 'समाधि' अर्थात् ब्रह्म में चित्त का सम्यक् आधान या अवस्थान 'समाधि' कहलाता है। समाधि दो प्रकार की है – सविकल्पक एवं निर्विकल्पक। सविकल्पक समाधि अर्थात् ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय विकल्पों के विलय (समाप्ति) को अपेक्षा किये बिना अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) का आकार धारण करने वाली चित्तवृत्ति का इसमें स्थिर होना 'सविकल्पिक समाधि' है। निर्विकल्पक समाधि का लक्षण है – अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय विकल्पों के विलीन हो जाने की अपेक्षा से अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में उसके आकार से आकारित चित्तवृत्ति का आत्यन्तक रूप से स्थित हो जाना 'निर्विकल्पक समाधि है। निर्विकल्पक समाधि के अंग हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, (और) अपरिग्रह यम हैं। शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान ये नियम हैं। हाथ, पैर आदि को किसी विशेष स्थिति में रखना ही जिनका लक्षण है, वे पद्म, स्वास्तिक आदि आसन हैं। जिनका लक्षण रेचक, पूरक और कुम्भक करना है, प्राणवायु को निगृहीत नियन्त्रित करने के वे उपाय प्राणायाम कहलाते हैं। इन्द्रियों को अपने–अपने विषयों से हरा लेना प्रत्याहार

है। अद्वितीय वस्तु में अन्तःकरण को लगाना धारणा है। अद्वितीय वस्तु में अन्तःकरण की वृत्ति का एक एककर प्रवाहित होना ध्यान है। निर्विकल्पक समाधि का अंग समाधि तो सविकल्पक ही है। निर्विकल्पक समाधि के लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद ये चार आन्तरिक विघ्न होतें हैं अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न करने से चित्तवृत्ति का सो जाना 'लय' है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने के कारण चित्तवृत्ति का अन्य वस्तुओं का अवलम्बन करना 'विक्षेप' है। लय और विक्षेप के अभवा होने पर भी रागादि वासनाओं के कारण चित्तवृत्ति के स्तब्ध हो जाने से अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करना 'कषाय' है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने पर भी चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करने लगना 'रसास्वाद' कहते हैं। चार प्रकार के विघ्नों से रहित चित्त जब वायुरहित स्थान में रखे गये दीपक की भाँति निश्चल निष्कम्प होता हुआ अखण्ड चैतन्य मात्र रूप से स्थित होता है, तब वह स्थिति निर्विकल्पक समाधि का स्वरूप कही जाती है।

'जीवन्मुक्त' वह है जो अपने स्वरूप भूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान और उसके कार्य, संचित कर्म, संशय, विपर्यय आदि के भी बाधित हो जाने पर सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मवेत्ता) हो। उपसंहार के रूप में ग्रन्थकार कहते हैं कि यह जीवन्मुक्त केवल शरीर चलाने भर के लिए स्वचेछा, अनिच्छा या परेच्छा से प्राप्त कराटे गये प्रारब्ध कर्म के सुख दुःख रूप फलों का निर्लेपभाव से अनुभव करता हुआ अन्तःकरण की विषयाकारवृत्तियों को (साक्षी रूप से) प्रकाशित करता हुआ, इस प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर प्रत्ययगानन्द रूप परब्रह्म में प्राण के लीन हो जाने पर (प्रारब्धकर्माक्षिप्त) अज्ञान और उसके (प्रपंच) रूप कार्यों तथा संस्कारों का भी (पूर्वसिद्ध ज्ञान से) विनाश हो जाने पर परमकैवल्य रूप आनन्दैकरस समस्त भेद प्रतीतियों रहित अखण्ड ब्रह्मरूप में स्थित होता है।

15.5 शब्दावली

श्रवण : सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु के प्रतिपादन में तात्पर्य है उसका छः प्रकार के लिंगों से निश्चय करना।

उपक्रमोपसंहार : किसी प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उसके प्रारम्भ एवं अन्त में उपपादन करना।

अभ्यास : प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का उसके मध्य में पुनः पुनः प्रतिपादन।

अपूर्वता : प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का श्रुति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से बोध या ज्ञान न होना।

फल : प्रकरण प्रतिपाद्य आत्मज्ञान का अथवा आत्मज्ञान के लिए किये जाने वाले साधनानुष्ठान का तत्तत् प्रकरण में प्रतिपाद्य प्रयोजन।

अर्थवाद : प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य विषय की स्थान–स्थान पर प्रशंसा करना।

उपपत्ति : प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को सिद्ध/प्रमाणित करने के लिए स्थान–स्थान पर वर्णित युक्तियाँ।

मनन : श्रवण किये गये अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का वेदान्तानुकूल तर्कों द्वारा निरन्तर चिन्तन करना।

निदिध्यासन :विजातीय शरीरादि विषयक विचारों से रहित अद्वितीय वस्तु के सजातीय विचारों को मन में प्रवाहित करना

समाधि : व्युत्थान (सक्रियता) एवं विरोध के संस्कारों के अभिभव एवं प्रादुर्भाव होने पर चित्त की एकाग्रता का परिणाम अथवा ब्रह्म में चित्त का सम्यक् आधान।

सविकल्पक समाधि : ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय विकल्पों के विलय की अपेक्षा किये बिना अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का आकार धारण करने वाली चित्तवृत्ति।

निर्विकल्पक समाधि : ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय विकल्पों के विलीन हो जाने की अपेक्षा से अद्वितीय ब्रह्म में तदाकारारित चित्तवृत्ति का आत्यन्तिक रूप से स्थित हो जाना।

यम : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह यम हैं।

नियम : शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान नियम है।

आसन : हाथ, पैर आदि को किसी विशेष स्थित में रखना जिनका लक्षण है, वे पद्म आदि

आसन हैं।

प्राणायाम : प्राणवायु को निगृहीत करने वाले रेचक कुम्भक पूरक ये प्राणायम हैं।

प्रत्याहार : इन्द्रियों को अपने–अपने विषयों से हटा लेना प्रत्याहार है।

धारणा : अद्वितीय वस्तु में अन्तःकरण को लगाना धारणा है।

ध्यान : अद्वितीय वस्तु के अन्तःकरण की वृत्ति का एक–एक कर प्रवाहित होना ध्यान है।

लय : अखण्डवस्तु बाह्य का अवलम्बन करके चित्तवृत्ति का सो जाना।

विक्षेप : अखण्डवस्तु का अवलम्बन न करने के कारण चित्तवृत्ति का अन्य वस्तुओं का

अवलम्बन करना।

कषाय : लय एवं विक्षेप के अभाव होने पर भी रागादि वासनाओं के कारण चित्तवृत्ति के

स्तब्ध हो जाने से अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करना।

रसास्वाद : अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने पर भई चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन या (निर्विकल्पक) समाधि के आरम्भकाल में सविकल्पक के आनन्द का आस्वादन।

जीवन्मुक्त : अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान एवं उसके कार्यादि के भी बाधित हो जाने पर सम्पूर्ण बन्धनों से रहित जो ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मवेत्ता) है वह जीवन्मुक्त है।

15.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सदानन्द – वेदान्तसार, नृसिंह सरस्वती की संस्कृत टीका तथा हिन्दी व्याख्या के साथ, व्याख्याकार डॉ. आद्याप्रसादमिस्र, अक्षयवट् प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999।
2. सदानन्द – वेदान्तसार, श्रीरामशरण शास्त्री कृत भावबोधिनी संस्कृत–हिन्दी टीका, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2017।
3. सदानन्द – वेदान्तसार, तत्त्वपारिजात हिन्दी व्याख्या टीकाकार प्रो. सन्तनारायण श्रीवास्तव, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2017।

15.7 अभ्यास प्रश्न

1. श्रवण एवं मनन के लिंग पर एका निबन्ध लिखिए।
2. वेदान्तसार के अनुसार टिप्पणी कीजिए।

   (क) मनन (ख) निदिध्यासन (ग) सविकल्पक समाधि
3. शिस्वरूपम् इस कारिका की वेदान्तसार के अनुसार व्याख्या कीजिए।
4. निर्विकल्पक समाधि, उसके अंग, विघ्न एवं निर्विकल्पक समाधि के स्वरूप पर एक निबन्ध लिखिए।
5. वेदान्तसार के अनुसार 'जीवन्मुक्त' पर एक निबन्ध लिखिए।